दो धारा

upander nath

उपेन्द्र नाथ अश्क
कौशल्या अश्क

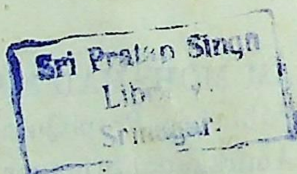
nilab prakashan

नीलाभ प्रकाशन गृह
इलाहाबाद—१

Allhabad

प्रथम संस्करण १९४६
द्वितीय संस्करण १९५४

मूल्य ३।)



प्रकाशक
नीलाभ प्रकाशन गृह, ५ खुसरोबाग़ रोड, इलाहाबाद।
मुद्रक
जॉब प्रिंटर्स, ६६, हिवेट रोड, इलाहाबाद।

'एक स्रोत से फूट बह रही
कब से यह दो धारा'

—पन्त

अपनी बात

अश्क जी के कहानी-संग्रह पिंजरा के पश्चात् हम अश्क-दम्पत्ति की कहानियों का यह सर्वाङ्ग-सुन्दर संग्रह लेकर सुहृद् पाठकों के समक्ष उपस्थित होते हैं।

अश्क जी हिन्दी के प्रमुख कथाकार हैं। वे हिन्दी के एक-मात्र ऐसे लेखक हैं जिन्हें उपन्यास, कहानी, नाटक तथा कविता पर समान-रूप से अधिकार प्राप्त है। यदि नाटक के क्षेत्र में उन्होंने नयी राहें निकाली हैं और हिन्दी नाटक-साहित्य को संसार के अति-आधुनिक नाटक-साहित्य के बराबर ला खड़ा किया है तो उपन्यास तथा कहानी के क्षेत्र में भी उन्होंने नवीन धाराएँ प्रवाहित की हैं। उनका हास्य-व्यंग्य, यथार्थ पर उनका अधिकार, उनकी कला, उसका सौष्ठव तथा परिष्कार उनकी अपनी चीज़ है। उनके बृहद् उपन्यास 'गिरती दीवारें' को छपे आज दो वर्ष होने को आये हैं, पर आज भी उसके पक्ष और विपक्ष में आलोचनाएँ हो रही हैं। और यह बात लेखक तथा उसके उपन्यास की मौलिकता तथा शक्ति का सहज-प्रमाण है।

जहाँ तक प्रस्तुत संग्रह की कहानियों का प्रश्न है, इनके सम्बन्ध में इतना ही कहना पर्याप्त है कि ये लेखक की शैली के गाम्भीर्य की प्रतीक हैं। कौशल्या जी के कथनानुसार श्री अश्क का स्वभाव

पराकाष्ठाओं से बना है। वे अत्यन्त विनोद-प्रिय भी हैं और अत्यन्त गम्भीर भी। यदि भारती-भंडार से प्रकाशित 'छींटे' की हास्य तथा व्यंग्य से परिपूर्ण ४२ कहानियाँ उनकी विनोद-प्रियता का पता देती हैं तो 'दो धारा' की ये कहानियाँ उनके गहन-गाम्भीर्य का। परन्तु गम्भीरता के कारण प्रस्तुत संग्रह की कहानियों में मनोरंजकता की कमी नहीं। मुक्त-हास्य का चाहे यहाँ अभाव हो, परन्तु अश्क जी का व्यंग्य, उनकी कला का परिष्कार तथा सौष्ठव पाठकों को संग्रह की प्रत्येक कहानी में मिलेगा।

कौशल्या जी (जहाँ तक उनकी कहानियों के पुस्तक रूप में संकलित होने का प्रश्न है) पहली बार हिन्दी संसार में पदार्पण कर रही हैं। परन्तु नये लेखकों का सा अविश्वास अथवा संकोच उनमें नहीं। अपने संगी के सहयोग से कला की परिष्कृति उन्होंने पर्याप्त मात्रा में पायी है। इस पर भी शैली उनकी अपनी है। पाठकों को प्रस्तुत संग्रह में कला की ऐसी दो धारा प्रवाहित मिलेगी जो दो होते हुए भी एक, और एक होते हुए भी दो है।

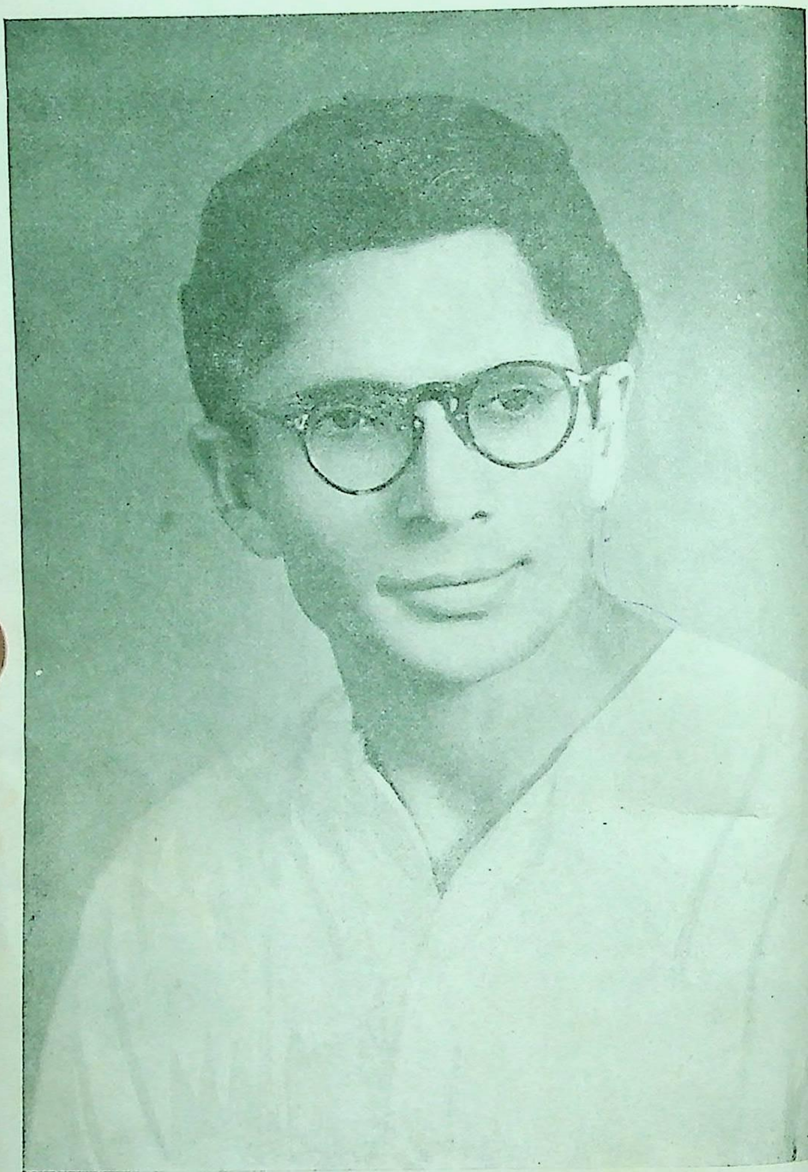
लेखक-दम्पत्ति के रेखा-चित्र कहानियों के पीछे छिपे कलाकारों को समझने में पाठकों की सहायता करते हैं। दूसरा संस्करण प्रकाशित करते हुए, हमें यह कहने में प्रसन्नता होती है कि ये रेखा-चित्र कहानियों से भी अधिक लोक-प्रिय हुए हैं।

मुख-पृष्ठ के सुन्दर तथा सांकेतिक चित्र के लिए हम श्री इस्माईल के विशेष आभारी हैं।

प्रकाशक

क्रम





उपेन्द्र नाथ अश्क

अश्क जी—एक रेखा-चित्र

कौशल्या

अश्क जी ने एक कविता में लिखा है :

और मैं दरिया
चिर का चला
थका औ' हारा
मन्थर-गति से मैदानों में बहने वाला
मौन और गम्भीर, शान्त औ' श्रान्त
यौवन की सब याद भुला कर
लूट लुटा कर
बहता हूँ उद्भ्रान्त!

किन्तु यह दरिया की एक सीमा है। शीत काल का सूखा-सिमटा, धीरे-धीरे, मौन-मन्थर बहने वाला दरिया वर्षा-ऋतु में किनारों को तोड़ता, ठहाके मारता हुआ बहने लगता है। उसे देख कर कभी यह

कल्पना भी नहीं होती कि वह घायल, म्रियमाण-सर्प सा सिकुड़ा-सिमटा भी कभी रेंगता होगा।

दरिया की यही दो पराकाष्ठाएँ अश्क जी के स्वभाव की भी पराकाष्ठाएँ हैं। उसकी एक पराकष्ठा को देख कर अश्क जी के सम्बन्ध में कोई धारणा बनाने वाला, जब उसकी दूसरी पराकाष्ठा देखेगा, तो आश्चर्य के साथ-साथ एक तीव्र आघात उसे लगे बिना न रहेगा।

अश्क जी से अपने परिचय और विवाह के पहले दिनों में मेरी स्थिति ऐसे ही व्यक्ति की-सी थी, जिसने दरिया का शीतकालीन रूप ही देखा हो—छोटी आयु में इनका विवाह हो गया था—एक सरल, किन्तु अशिक्षित ग्रामीण लड़की के साथ। वह किसी योग्य हुई तो यक्ष्मा ने लम्बी यातना के बाद उसे अपनी गोद में ले लिया। उसकी मृत्यु से अश्क जी को बड़ा धक्का लगा। इनके यहाँ पहली पत्नी का देहाँत होते ही रिश्ते आने लगते हैं। अश्क जी को पहली पत्नी पसन्द न थी, किन्तु चार वर्ष के सहयोग के पश्चात् उसे चाहने लगे थे। इन्होंने जल्दी दूसरा विवाह न किया। सब-जजी करने को कानून पास किया था, किन्तु प्रतियोगिता से दो महीने पूर्व पत्नी की मृत्यु हो जाने के कारण, खिन्न-मन हो, वह संकल्प छोड़, साहित्य-सेवा में रत हो गये। लाहौर का जीवन तब काफ़ी जुगुप्सा और लांछना-भरा था। कोई-न-कोई कलंक-कहानी वहाँ नित्य फैलती रहती। वहाँ से शान्ति की खोज में भागे तो मध्य-पंजाब के एक आधुनिक आदर्शवादी गाँव 'प्रीत नगर' में जा पहुँचे। वहाँ भी लांछना ने पीछा न छोड़ा। एक लड़की को लेकर ख़ासा 'स्कैंडल' खड़ा हो गया। अश्क जी इतने तंग आ गये कि अपने बड़े भाई को लिख दिया—'मेरा विवाह तय कर दो!' उन्होंने बिना देखे-सुने एक जगह बात पक्की कर दी। अश्क जी तनिक शान्त हुए तो लगा कि ख़ासी ग़लती हो गई है। पहले भी विवाह कुछ ऐसे ही

हुआ था, अनुभव काफ़ी कटु थे। भाई साहब से कहा—"सगाई तोड़ दीजिए!" उन्होंने कहीं दूर के रिश्ते ही में सगाई तय की थी। वे माने नहीं। मन की ऐसी ही दुविधा-भरी खिन्न और क्लान्त दशा में थे, जब मेरा इन से परिचय हुआ और मैंने अश्क जी के स्वभाव का वही रूप देखा जिसका उल्लेख इन्होंने इस कविता में किया है।

मैं रेनाला में हैडमिस्ट्रेस थी। लाहौर आती तो बीडन रोड पर अपने मामा जी के यहाँ ठहरती। अश्क जी वहीं मुझसे मिलने आया करते। आते तो ड्राइङ्ग-रूम में ऐसे चुपचाप बैठ जाते, मानो बात करना ही नहीं जानते। कोई बात पूछती तो इतने धीमे स्वर में उत्तर देते कि पास बैठा व्यक्ति भी न सुन सके। उन दिनों मैं सोचा करती थी कि मैं इनके व्यथित, उदास जीवन को मुस्कराना सिखाऊँगी—आप मेरे आश्चर्य का अनुमान लगा सकते हैं, जब अपने विवाह के एक महीने बाद ही मैंने इन्हें गगन-भेदी ठहाके मारते देखा और मुझे सुनना पड़ा कि मैं इतनी गम्भीर प्रकृति की हूँ कि शायद इन जैसे 'फक्कड़, हँसमुख' आदमी के साथ न चल सकूँ।

आत्म-विरोधी सीमाओं पर चलने वाले अश्क जी के स्वभाव का एक ही रूप देखने वाले को, अनायास ही उसका दूसरा रूप देखने पर, ऐसे ही चकित रह जाना पड़ता है और अपने सात वर्ष के वैवाहिक जीवन में (हमारे विवाह को केवल सात वर्ष हुए हैं) ऐसे आश्चर्य के साथ धक्का-सा पहुँचाने वाले क्षण कम नहीं आये।

विवाह के पहले ही दिनों की बात है। एक बार हमने कुछ मित्रों को आमंत्रित किया। उनमें से कुछ अश्क जी के श्रद्धालु भी थे। दस्तरख़ान बिछा, सब्ज़ी-भाजी के डोंगे, सलाद आदि रख मैंने सब को

बैठने के लिए कहा। जब सब अपने-अपने स्थान पर बैठ गये तो मैंने दायीं ओर कोने पर बैठे अतिथि से कहा—"आरम्भ कीजिए !" अश्क जी उनके सामने बायें कोने में बैठे थे। श्रद्धा और शिष्टाचार-वश उन्होंने अश्क जी से कहा—"आप ही आरम्भ कीजिए।" बिना किसी प्रकार की दुविधा अथवा संकोच के, निरन्तर बातें करते हुए, इन्होंने एक डोंगा उठाया और अपनी प्लेट में सालन डाला, फिर उसे आगे करने के बदले, वहीं अपने सामने रख दिया और दूसरे की ओर हाथ बढ़ाया। मैं अवाक् देखती रही। डोंगे पर डोंगा उठा कर ये सब अपनी प्लेट में डालते गये; वहीं अपने पास डोंगे इकट्ठे करते गये; और फिर बिना यह देखे कि किसी दूसरे ने भी कुछ लिया है या नहीं, आपने खाना आरम्भ कर दिया।

मैंने दबी ज़बान से कहा, "आपने खाना शुरू कर दिया, डोंगे आगे बढ़ाइए।"

अश्क जी ने कौर मुँह में डालते हुए कहा, "अरे भाई, लीजिए न, तकल्लुफ़ न कीजिए और लेते जाइए।"

और ये पूर्ववत् खाते गये।

तब लज्जित-सी हो कर मैंने स्वयं डोंगे आगे बढ़ाये।

ऐसे ही एक बार जब अचानक कुछ मेहमान ज़्यादा आ गये, मैंने बैठक से इन्हें बुला कर कहा, "बाकी तो सब ठीक है, पर बैंगन का भुर्ता कुछ कम है। कोई रह न जाय। कहिए तो जल्दी से दो बैंगन मँगा कर भून लूँ। साथ में बाज़ार है, देर न लगेगी।"

बोले, "तुम चिन्ता न करो जी, सब ठीक हो जायगा। और कुछ मँगाने की हरगिज़ ज़रूरत नहीं।"

मैंने कहा, "थोड़ा-थोड़ा स्वयं ही सब की प्लेटों में डाल दीजिएगा।"

बोले—"तुम ज़रा भी फ़िक्र न करो। तुम देखना मैं कैसे सब ठीक कर देता हूँ।"

और बाहर अपने मित्रों में जा बातों में निमग्न हुए।

मैं भी निश्चिन्त हो गई।

जब समय पर सब खाने को बैठे, मैंने भुर्ते की प्लेट की ओर संकेत किया। इन्होंने भुर्ता उठाया और अपनी प्लेट में पर्याप्त मात्रा में डाल-कर बोले, "देखो भाई, यह तरकारी बस इतनी ही है। लेते समय ज़रा दूसरों का ध्यान रखिएगा!"

शर्म के मारे मेरा मुँह लाल हो गया। मैंने कहा, "आप तो दूसरों का ध्यान रखिए!"

"अरे यार!" कहते हुए अश्क जी ने ठहाका मारा..."अब तो यह जूठा हो गया, नहीं तो वापस डाल देता।" मुझ से माफ़ी माँगते हुए बोले, "गुस्सा क्यों होती हो, ये सब अपने ही आदमी हैं, यहाँ कोई खाने थोड़े ही आते हैं, इस बहाने चन्द दिलचस्प घड़ियाँ बीत जाती हैं।" और मित्रों से बोले, "लो यार थोड़ा-थोड़ा। ये तो और पकाने लगी थीं, मैंने ही रोक दिया कि तुम सब अपने ही आदमी हो, तकल्लुफ़ की क्या ज़रूरत है?"

अश्क जी के लिए सभी अपने आदमी हैं। जामिया मिलिया दिल्ली के प्रो॰ सरवर ने इन के बारे में एक जगह लिखा है —

> "अश्क की तबीयत में अजनबीपन नाम को नहीं। पहली ही मुलाकात में आप से सब कह देंगे। सब से बेतकल्लुफ़ और सब के दोस्त!"

और मुझे अपने साथ इन की पहली मुलाकात याद आ जाती है। मुझे रेनाला से लाहौर पहुँचने में कुछ देर हो गई थी। पर ये

प्रीत-नगर से पहले ही लाहौर पहुँच गये थे। मैं अभी स्नानादि से भी निवृत्त न हुई थी कि आप का छोटा भाई आ पहुँचा और मालूम हुआ अश्क जी को आये चार-पाँच घंटे हो गये हैं, उन की तबीयत ख़राब है, ज्वर है और हॉकी खेलते हुए आँख पर गहरी चोट आ गई है। मुझसे कहा गया कि यदि सम्भव हो तो मैं ही उधर चलूँ।

अश्क जी के बड़े भाई लाहौर में दाँतों के डाक्टर थे। बाइबल सोसाइटी के सामने उनकी सर्जरी थी। इन के भाई ने मुझे वहाँ का पता बताया। मैंने कहा, "आप चल कर अश्क जी से कहिए कि मैं आध घंटे में पहुँच जाऊँगी।"

मैंने इनको पहले भी दो-एक बार देखा था—सिल्क का बंगाली कुर्ता और बारीक किनारे की धोती पहने। हिन्दी-समाज लाहौर के अधिवेशन में इनकी कविता भी सुनी थी, किन्तु ये मुझे नहीं जानते थे, चन्द पत्रों का ही परिचय था। चिक उठा कर मैंने प्रवेश किया तो देखा हाफ़-पेंट और खुले गले की कमीज़ पहने बैठे हैं। एक आँख पर पट्टी बँधी है जो आधे सिर को अपनी लपेट में लिये हुए है। कमीज़ के कफ़ में तीन-तीन 'स्टड' और हाफ़पेंट में तीन-तीन 'बक्लस !' कुछ चकित-सी हो कर मैंने 'नमस्कार' किया। बिना उसका उत्तर दिये बोले, "आओ !" मैं बैठने ही वाली थी कि उठ खड़े हुए। बोले, "यहाँ मरीज़ों की भीड़ लगी रहती है, घर में पिता जी आये हुए हैं और पिये हुए हैं, चलो बेदी के यहाँ चल कर बैठते हैं।"

इस से पहले कि मैं कुछ कहती, आप ने बाहर निकल कर एक ताँगे वाले को आवाज़ दी और अगली सीट पर जा बैठे।

बेदी का नाम सुन कर, न जाने क्यों, मेरे मन में डाक्टर की कल्पना हो आई—डाक्टर बेदी—और मेरे मस्तिष्क में आधुनिक ढंग के फ़र्नीचर

से सजा हुआ एक ड्राइंग रूम घूम गया। लेकिन जब घोड़ा अस्पताल के पास से हो कर, ऋषि नगर के बाहर की सड़क पर चलते हुए ताँगा एक कीचड़ सनी गली के सामने जाकर रुका और मकानों के आगे बनी हौदियों (चहबच्चों) की दुर्गन्ध से दिमाग़ भन्ना गया (उस समय ऋषि-नगर में आज कल जैसी नालियाँ न बनी थीं) तो मेरा माथा ठनका। किन्तु ताँगे से उतर कर श्रद्धा-वश मैं इन के पीछे-पीछे चलने लगी।

हम ने जिस कमरे में प्रवेश किया, वह न आधुनिक था, न मेरी कल्पना के अनुसार सजा हुआ था और न बेदी ही डाक्टर थे। कमरा छोटे से आकार का था, उस में एक पलंग भी बिछा हुआ था, एक मेज़ और दो तीन कुर्सियाँ भी थीं।और—"कहो भाई बेदी !" कह कर अश्क जी ने जिस व्यक्ति से हाथ मिलाया, वह मँझले क़द का सिख युवक था—नंगे सिर और कच्छा (अंडरवेयर, जिस का पहनना सिक्खों के लिए धार्मिक रूप से भी अनिवार्य है) पहने हुए ! कमरे में बहुत अच्छे सूट में आवृत्त एक दूसरा सिख युवक भी बैठा था। अश्क जी उसे जानते थे या नहीं, यह तो मैं नहीं कह सकती, किन्तु उस पर एक उड़ती सी नज़र डाल कर ये अपने मित्र को ढकेलते हुए से आँगन में ले गये और वहाँ जा कर बोले, "भाई अपने इस मेहमान को तत्काल चलता करो, चाहे यह तुम्हें कितना भी प्रिय क्यों न हो !" मेरी ओर संकेत करके बोले, "इनको ज़रा ले जा कर बैठाओ और मुझे कोई पायजामा-आमा दो, इस निक्कर की कैद से मुक्ति पाऊँ !" और बिना बेदी साहब को उत्तर देने का अवसर देते हुए, रस्सी पर धो कर सूखने को डाला तथा सूखा हुआ एक पायजामा लेकर, मुझ से, "मैं अभी आता हूँ !" कह कर भीतर के कमरे में चले गये।

मैं चकित-सी बेदी साहब के साथ (क्योंकि ये बेदी उर्दू के प्रख्यात गल्पकार राजेन्द्र सिंह बेदी के अतिरिक्त दूसरे कोई न थे) फिर

वापस अन्दर गई और जिस कुर्सी की ओर उन्हों ने संकेत किया, उस पर चुपचाप बैठ गई।

कुछ श्रद्धावश, कुछ इसलिए कि इतनी दूर से चल कर इनसे मिलने आई थी, मैं चुप बैठी रही। यह जान कर कि शब्दों से खेलने वाले यह कवि महाराज हॉकी भी इस निष्ठा से खेल सकते हैं कि आँख फुड़वा लें, मुझे आश्चर्य हुआ था, और यद्यपि इनकी इस बेतकल्लुफ़ी को देख कर मैं अवाक् रह गई, पर इनके इस विचित्र फक्कड़पने के कारण इन्हें जानने की और भी उत्सुकता हो गई थी।

मुझे बेदी साहब की वह विवशता कभी न भूलेगी। मैंने बाद में उन्हें सूट में भी देखा है और आधुनिक ढङ्ग पर सजे हुए (माडल टाऊन) के अपने बंगले में भी, लेकिन मेहमानों के मामले में मैंने उन्हें हमेशा इतना ही सहृदय और सुसंस्कृत पाया है। अश्क जी कभी-कभी बहुत रूखे हो जाते हैं, लेकिन बेदी साहब को मैंने क्रोध में भी कभी, याचित हो अथवा अयाचित, मेहमान से रूखा व्यवहार करते नहीं देखा।

मुझे बैठा कर बेदी साहब अपने मेहमान को चलता करने के बदले मिठाई की तश्तरी और सोडे का गिलास अन्दर से ले आये और अपने उस अतिथि के आगे रखते हुए बोले, "लीजिए डाक्टर साहब, इतनी देर से आप बैठे हैं, कुछ खाइए न!"

डाक्टर साहब (जो बाद में मालूम हुआ कि किसी डाक्टर बनाने वाली कम्पनी से होम्योपैथ की डिग्री लिये हुए थे) कदाचित् अपने 'कारनामे' सुना रहे थे। यद्यपि बेदी साहब ने 'इतनी देर' कहते हुए इन शब्दों पर ज़ोर दिया था, पर इस सूक्ष्म से संकेत को वे क्या समझते? उन्होंने बड़े आराम से तिपाई को खींच कर उसके नीचे घुटने

टिका दिये और अपनी बात जारी रखते हुए, मिठाई का एक-एक टुकड़ा उठा कर मुँह में डालने लगे।

बेदी साहब के चेहरे पर एक रंग आने और एक जाने लगा। मुझे विश्वास है कि वे अपने मित्र को कभी भी टाल न सकते, पर अश्क जी ने कपड़े बदल कर आँगन ही से कहा—"अब अपनी कान्फ़्रेन्स खत्म करो यार, कुछ वक्त हमारे लिए भी रहने दो।"

कोई वज्र-मूर्ख ही होगा जो इतना सीधा संकेत भी न समझे। अतः डाक्टर साहब सहसा उठे और बेदी साहब से क्षमा माँग कर, फिर आने की प्रतिज्ञा करके चले गये और अश्क जी ने आकर संक्षेप में बेदी साहब को मेरा परिचय दिया। बेदी साहब फिर नयी मिठाई और सोडे की बोतलें लाने को भागे और अश्क जी थके हुए से पलंग पर लेट गये। वहीं लेटे-लेटे इन्होंने आँख की चोट से जो बात आरम्भ की तो अपने ज्वर के बावजूद अपने जीवन की सभी कहनी और अनकहनी बातें उस पहली ही मुलाकात में कह गये।

लेकिन 'सब से बेतकल्लुफ़ और सब के दोस्त' की दूसरी पराकाष्ठा भी है। यों तो अश्क जी मित्रों ही से नहीं, प्रायः पहली ही बार मिलने वालों से भी अपनी सब कहनी-अनकहनी बातें कह देते हैं, किन्तु जिन्हें ये अपना शत्रु समझ लें (कोई इनका अपमान कर दे अथवा इनको धोखा दे दे तो) उससे प्रति-दिन मिलने पर भी उस पर अपने मंतव्य को प्रकट नहीं होने देते। और दस वर्ष बाद भी अपने अपमान का बदला लेने से नहीं चूकते। अपने चरित्र की इस त्रुटि से ये अनभिज्ञ हों, यह बात नहीं। बात चल पड़े तो अश्क जी इसे बर्बरता का लक्षण मानते हैं और सदा इस भावना से मुक्ति पाने का संकल्प करते हैं, पर इन्होंने ऐसे वंश में जन्म लिया है जहाँ दादा के अपमान का

बदला पोते चुकाते रहे हैं और जब कभी जान बूझ कर कोई इनका अपमान करता है तो अपनी इस जन्मजात भावना से विवश हो, ये सारी फ़िलासफ़ी भूल कर, उसका बदला लेने को तत्पर हो जाते हैं। न उस अपमान को भूलते हैं, न उस समय तक शान्ति पाते हैं, जब तक उसका बदला न ले लें या जब तक दूसरा क्षमा न माँग ले।

इन की क्षमा का किस्सा भी दिलचस्प है। कई बार ऐसा होता है कि किसी से धोखा खाने या अपमान पाने पर जी में कुढ़ते और अपने अपमान का बदला लेने की स्कीमें सोचते रहते हैं कि वह अपने कृत्य पर खेद प्रकट कर देता हैं। बस ये सब कुछ भूल कर फिर उस के गुण गाने लगते हैं।

अभी तीन चार वर्ष पहले इनके एक मित्र ने धोखे के साथ हम से न केवल दिल्ली वाला मकान (जहाँ अश्क जी के बम्बई आने पर मेरा भाई रहता था।) लेकर किसी को दे दिया, बल्कि वहाँ मेरे भाई का जो सामान था, वह भी ठिकाने लगा दिया। अश्क जी ने सुना तो बड़े तिलमिलाये। लेकिन जिन साहब को उसने मकान दिया, वे भी साहित्यिक मित्र थे। उन्होंने ठीक बात जानते ही लिख कर खेद-प्रकट किया। तब न केवल अश्क जी ने मकान वापस लेने का कोई प्रयास न किया, बल्कि मालिक-मकान को लिख कर उन्हें वहाँ स्थापित करने का भरसक प्रयत्न किया, और जिस मित्र ने धोखा दिया था, उस से बदला लेने का ध्रुव-निश्चय किये रहे।

पिछले दिनों जब डाक्टरों से परामर्श लेने पंचगनी से बम्बई गये तो कहीं वह भी बम्बई ही में था। उसे इनके वहाँ होने का पता चला तो मिलने चला आया। जाने क्या बातें हुईं पर वह माफ़ी माँग गया। वापस आये तो बोले, "कदाचित्—पंचगनी आये।"

मैं हैरान इनके मुँह की ओर देखने लगी।

तब बताने लगे कि कैसे वह मिला था, कैसे अपने कृत्य की सफ़ाई देता था, कैसे इन्होंने उसे निरुत्तर कर दिया, कैसे पाकिस्तान में उसकी बड़ी हानि हुई है, कैसे उसने अपने कृत्य पर अफ़सोस प्रकट किया, आदि-आदि......

जब इस सफ़ाई पर भी मेरे चेहरे का भाव न बदला तो कहने लगे, "जब उसने माफ़ी माँग ली तो क्या मैं उसे फाँसी पर लटका देता। बम्बई में गर्मी है, मैंने उसे पंचगनी आने को कह दिया। अब हटाओ इस किस्से को।"

और यह कह कर बेपरवाही से सिर झटका कर ये अपने काम में व्यस्त हो गये।

अश्क जी कपड़ों के मामले में बड़े बेपरवाह हैं। लोगों ने इन्हें हर प्रकार के लिबास में देखा होगा, पर सूट-बूट, अचकन-टोपी, कमीज़-शलवार, धोती-कुर्ता आदि सब भूषाओं के बावजूद इन्हें तहमद पहने नंगे बदन रहना बड़ा पसन्द है। पहले पहल सूट आदि ये तभी पहनते थे जब इन्हें सरकारी दफ़्तर में किसी से मिलने जाना होता, नहीं सारा दिन घर में नंगे बदन, तहमद और कभी-कभी कच्छा पहने बैठे रहते। फिर जब स्वयं सरकारी दफ्तर में नौकर हुए तो यद्यपि निरन्तर पेंट आदि पहने रहना पड़ा, पर तहमद से इनका मोह नहीं गया। जब भी घर में होते, तहमद पहनते।

दिल्ली में ये आल इंडिया रेडियो में नये-नये मुलाज़िम हुए थे। गर्मी का मौसम था, पर संध्याएँ अपेक्षाकृत ठंडी हो गई थीं। एक शाम खाना खाने के बाद बोले—"चलो ज़रा सैर की जाय।"

अपने स्वभाव के अनुसार केवल तहमद पहने हुए थे। मुझे तो

बड़ी बदतमीज़ी मालूम होती थी, लेकिन नयी-नयी आयी थी, अधिक ज़ोर न देती थी। धीरे से मैंने कहा—"कपड़े तो बदल लीजिए!"

कहने लगे—"फिर सैर का मज़ा क्या खाक आयेगा? ठंडी-ठंडी हवा में नंगे बदन घूमने का जो लुत्फ़ है, वह कपड़े ठोंस कर जाने में कहाँ!"

"मैं तो नहीं जा सकती।"

बोले—"इस समय सड़क पर कौन होगा!"

"तो भी," मैंने कहा—"मैं नहीं जाऊँगी।"

"तो मैं हो आता हूँ, 'महिन्दर' को ले लूँगा।"

महेन्द्र उर्दू के प्रसिद्ध कहानी लेखक श्री कृष्ण चन्द्र के छोटे भाई हैं। स्वयं भी उर्दू के प्रसिद्ध कहानी लेखक हैं। हमारे उनके घर साथ-साथ थे। महेन्द्र भाई को साथ लेकर ये नंगे बदन, केवल तहमद पहने, उसकी दायीं कोर को जालन्धरियों के खास अंदाज़ में उठाये जा रहे थे कि इनके एक सहकारी, जो आल-इंडिया-रेडियो में संगीत विभाग के इंचार्ज और स्वयं भी बहुत अच्छे संगीतज्ञ थे, आते दिखाई दिये। तब बूलवर्ड रोड पर बिजली का प्रकाश तो था, पर दोनों ओर नीम के घने पेड़ों के कारण वहाँ अँधेरा-सा रहता था। शाम ही से वहाँ सन्नाटा छा जाता था। उस समय साढ़े नौ बजे थे। सड़क सूनी थी और वे महाशय आकाश की ओर मुँह किये कोई धुन बनाते और गुनगुनाते चले आ रहे थे।

बढ़ कर अश्क जी ने उनके कंधे पर हाथ मारा—"क्यों भाई किधर!"

उन साहब का ध्यान अपनी धुन में था; सड़क पर ख़ासा अँधेरा था; चन्द दिन पहले उस स्थान के समीप ही एक रेडियो इंजीनियर पर घातक-आक्रमण हो चुका था, अश्क जी को इस वेश में देख कर वे तत्काल पहचान न सके—रंग उन का फ़क़ हो गया और क्षण भर वे

अश्क जी को मुटर-मुटर तकते रहे। फिर जब इन्होंने अपना गगन-भेदी ठहाका मारा और महेन्द्र भ बढ़ कर उन्हें 'आदाब' किया तो उनकी जान में जान आई। आश्चर्य से उन्होंने पूछा—"क्या बात है, ऐसे घूम रहे हो?"

अश्क जी को इस में आश्चर्य की कोई बात दिखाई न देती थी। जो व्यक्ति बी० ए० तक लंगोट लगाये, शरीर पर तेल की मालिश किये, जालन्धर के भरे बाज़ारों में भागता फिरता रहा हो, जिसे किसी ने टोका न हो और जो इस बात का ज़िक्र बड़े गर्व-स्फीत-स्वर में करता हो, उसे दिल्ली की अपेक्षाकृत सूनी सड़क पर लंगोट नहीं, तहमद लगाये घूमने में क्या बुराई नज़र आ सकती है? "तुम निरे घौंचू आर्टिस्ट हो!" कहते हुए अश्क जी ने अपने सहकारी से हाथ मिलाया और आगे बढ़ गये।

इधर कुछ वर्षों से अश्क जी ने तहमद नहीं पहना और निरन्तर नौकरी करने के कारण अपने कथनानुसार अधिकांश समय "कपड़ों के कैदखाने में" बन्द रहे हैं, लेकिन न अभी तहमद का मोह छोड़ा है, न नंगे बदन बैठने का। दिल्ली के बाद बम्बई में भी गर्मियों के दिनों में जब घर पर काम करते, अपने पुराने स्वभाव के अनुसार, केवल धोती अथवा मात्र अंडरवियर में काम करते। यों भी कपड़ों के मामले में विचित्र-सी विरक्ति इन्हें है। अकेले थे तो जो भी कपड़ा बाहर हुआ या ट्रंक के ऊपर हुआ, वही पहन लेते थे। मैं आई तो जो भी मैं निकाल देती हूँ, वही पहन लेते हैं, किन्तु इसके बावजूद जब कभी जी से पहनते हैं, तो नफ़ासत पसन्दी की हद कर देते हैं। पहले पहले मुझे यह विरक्ति और आसक्ति बड़ी विचित्र लगती थी, पर अब मैं इनके स्वभाव की पराकाष्ठा-प्रियता की अभ्यस्त हो गई हूँ।

दिल्ली ही की बात है। यह देख कर कि पास पैसे होते हुए भी ये बड़े भद्दे कपड़े पहनते हैं (कारण कुछ भी रहा हो। जब मैं आई तो ए० आई० आर० की नौकरी के बावजूद गर्मियों के लिए इनके पास केवल तीन पतलूनें और तीन कमीज़ें थीं—नौकर धोकर लोहा करा लाता और ये बदल कर चले जाते, सर्दियों के लिए केवल एक सूट था) मैंने आते ही इनके 'न' 'न' करने पर भी दो बढ़िया गर्म सूट सिलवाये।

एक दिन जब मैंने नया सूट पहनने को निकाला तो टाई पसन्द की न होने के कारण छोड़ दिया। मैं उसी शाम कुछ बहुत अच्छी टाइयाँ ले आई। दूसरे दिन कुछ देर से उठे। व्यायाम करते, हजामत बनाते और नहाते इन्हें देर हो गई तो चिल्लाने लगे। जल्दी में कभी यह कमीज़ पहनते कभी वह, आख़िर जब सूट से मैच करती कमीज़ पहनी तो टाई पर काफ़ी देर अटके। बूट पर पालिश किया गया और आख़िर जब पूरी तरह संतोष हुआ तो नाश्ते का समय न था। किसी-न-किसी तरह ज़ोर देने पर नाश्ता करके भागे।

इनके जाने पर मैं हैरान खड़ी सोचने लगी कि कहाँ तो इतनी बेपरवाही कि क्या पहनते हैं, क्या नहीं पहनते, इस का होश नहीं और कहाँ इतनी नफ़ासत-पसन्दी कि कालेज के छोकरे भी मात खा जायँ। काम करते हुए मैं निरन्तर यही सोच रही थी, इनको गये पाँच-सात मिनट गुज़र चुके थे और मैं मना रही थी कि मीटिंग के समय पर पहुँच जायँ ताकि इस देर का क्रोध मुझ पर न उतरे कि बरामदे में फिर इनके जूतों की आवाज़ सुनाई दी। मैं मेज़ की ओर भागी कि कोई फ़ाईल रह गई हो तो देख कर जल्दी से दे दूँ। दूसरे क्षण आप आये और सीधे अन्दर के कमरे में चले गये। मैंने पूछा—"क्या हुआ, क्या रह गया ?" बोले, "कुछ नहीं !"

कुछ देर बाद जा कर देखती हूँ —शीशे के आगे खड़े वैनिशिंग क्रीम मल रहे हैं।

इनकी माता जी से एक बार बात चली तो कहने लगीं "लड़कपन ही से इसकी ऐसी आदत है। नहीं पहनता तो नहीं पहनता, पहनता है तो नवाबज़ादों को मात करता है। एक बार सुरेन्द्र (बड़े भाई) के ब्याह पर बढ़िया सिल्क का एक कोट सिलवाया। दर्ज़ी ने कहीं ऊपर की जेब ज़रा टेढ़ी कर दी। मुझे तो उस में कोई नुक्स न लगता था, पर इन्होंने वह एक बार पहन कर देखा तो फिर नहीं पहना।"

उन दिनों अश्क जी आठवीं या नवीं श्रेणी में पढ़ते थे।

इनके इस दो रुखे स्वभाव का एक दिलचस्प प्रमाण मुझे उन्हीं दिनों फिर मिला। दिल्ली ही की बात है। मैंने इन्द्रप्रस्थ-गर्ल्ज़-हाई-स्कूल में नौकरी कर ली थी, लड़कियों की परीक्षाएँ हो चुकी थीं और पेपरों का ढेर का ढेर आया पड़ा था। उन्हीं दिनों नौकर भाग गया। किसी प्रकार रात का खाना पका, बर्तन कपड़े आदि उसी तरह छोड़ मैं पेपर देखने लगी और रात के दो बजे तक देखती रही। यों भी मैं सुबह देर से उठती हूँ। उस दिन कुछ और देर हो गयी। उठते ही पहली दृष्टि जिस चीज़ पर पड़ी, वे रस्सी पर सूखने के लिए डाले हुए धुले धुलाये कपड़े थे। चकित हुई कि ये किस ने धोये। समझा शायद प्रातः ही कोई नौकर आ गया है। ख़ुशी से भागी-भागी अन्दर गयी तो देखा—रसोई-घर में बाप-बेटा (अश्क जी की पहली पत्नी से एक लड़का है) बैठे बर्तन मल रहे हैं और अश्क जी अपने लड़के को बर्तन मलने की कला में निपुण बना रहे हैं।

अवाक्, मर्माहत चौखट पर खड़ी मैं सब देखती रही। फिर बढ़ कर मैंने कहा—"हटिए, यह क्या कर रहे हैं ? क्या मैं मर गई हूँ, जो बर्तन मलने आ बैठे हैं।"

२

कहने लगे, "मरने का नाम न लो, चौथी बीवी अब मुझे कहाँ से मिलेगी ?"

मैंने कहा, "हटाइए, यह मज़ाक मुझे पसन्द नहीं।"

लेकिन इन्हों ने मुझे बर्तनों को हाथ नहीं लगाने दिया। कहने लगे, "मेरे तो हाथ सने हुए हैं तुम क्यों व्यर्थ में हाथ खराब करो। तुम से बुरे नहीं मलूँगा, इतना विश्वास रखो। स्कूल के दिनों में वर्षों मले हैं। जाओ जल्दी तैयार हो जाओ, स्कूल को देर हो जायगी।"

विवश हो मैं चली गई। सौभाग्य से उसी शाम नौकर मिल गया, नहीं जाने ये कब तक घाटी* बने रहते।

लेकिन इस घटना के चन्द दिन बाद का ज़िक्र है। इतवार का दिन था। मै बाहर आँगन में बैठी पेपर देख रही थी और अश्क जी अन्दर मेज़ पर बैठे लिख रहे थे कि मुझे आवाज़ पड़ी। मुझे उठने में देर हो गई कि फिर आवाज़ पड़ी। पेपर छोड़ भागी गई कि न जाने क्या बात हो गई। बोले—"ज़रा वह डिक्शनरी देना।"

डिक्शनरी दो क़दम के अन्तर पर पड़ी थी। मेरे सम्मुख चन्द दिन पहले कपड़े धोने और बर्तन मलने का दृश्य घूम गया। डिक्शनरी देते हुए सोचने लगी, कि जो आदमी ऐसी शाहाना-आराम-तलबी का मालिक हो सकता है, कि दो क़दम उठ कर चीज़ लेने के बदले दूसरे को दूर से बुलाये, वह कपड़े धोने या बर्तन मलने-जैसा कठिन काम कैसे कर सकता है ?

•

परन्तु यही उतार-चढ़ाव और पराकाष्ठाएँ हैं, जो अश्क जी के स्वभाव की रूप-रेखा बनाती हैं। अश्क जी का स्वभाव ऐसे शान्ति-प्रिय

---

*घाटी=बम्बई में बर्तन आदि मलने वाले साधारण नौकर=घाट के निवासी।

व्यक्ति का सा नहीं जो पहाड़ की चोटी पर पहुँच कर उस पर डेरा डाल ले, बल्कि ऐसा चंचल राही है जिसको कभी पहाड़ के शिखर पसन्द हैं, कभी गहरी घाटियाँ। जो कभी जन-संकुल नगरों को पसन्द करता है और कभी निर्जन वीरानों में जा रमता है। पराकाष्ठाएं उसे पसन्द हैं। कोई एक सीमा-रेखा अथवा मध्य का मार्ग उसे रुचिकर नहीं। बचपन ही से अश्क जी का जीवन घटना-पूर्ण रहा है। इन्हों ने अतीव कड़वे प्याले भी पिये हैं और मीठे भी, बाहुल्य भी देखा है और अभाव भी; अपार प्रेम भी पाया है और तीव्र उपेक्षा भी और न जाने किन जन्मजात संस्कारों और माता-पिता के किन गुण-दोषों और किन दूसरी सामाजिक, शारीरिक अथवा मानसिक विषमताओं के कारण इनका स्वभाव ऐसी आत्म-विरोधी पराकाष्ठाओं में घड़ी के पेंडुलम की भाँति चलता रहता है—ठहाके मारते हैं तो छत फटती सी मालूम होती है और कभी, जब किसी आत्मीय की ओर से ठेस पहुँचने पर, रो पड़ते हैं तो समझ में नहीं आता कि कैसे इन्हें सान्त्वना दी जाय। एक क्षण में ऐसे दुर्बल कि अनायास दया हो आय, दूसरे क्षण ऐसे सबल कि पहाड़ से भी लोहा ले लें। फक्कड़ ऐसे कि क्या पहनते हैं, उसका ध्यान नहीं, क्या कहते हैं, इसकी परवाह नहीं, पर दूसरे अवसर पर इतने नफ़ासत-पसन्द कि भूषा की छोटी-से-छोटी तफ़सील (डीटेल) का ध्यान रखने वाले और इतने संस्कृत तथा संकोचशील कि मुँह से हर शब्द जाँच तोल कर निकालने वाले। कभी ऐसे उदार कि बड़ी-से-बड़ी बात क्षमा कर दें और कभी इतने संकीर्ण कि छोटी से छोटी बात से रातों की नींद हराम कर लें और जब तक उसका बदला न ले लें, चैन न पायँ। कभी ऐसे कंजूस कि कष्ट सह कर पैसा-पैसा जोड़ें और कभी ऐसे फ़जूल-ख़र्च कि इतने कष्ट से संचित पूँजी क्षण भर में ख़र्च कर डालें। कभी अनिश्चय के ऐसे शिकार कि अपना और दूसरों का जीवन

नष्ट कर दें और कभी ऐसे दृढ़-प्रतिज्ञ कि दो टूक फैसला करके, उससे इंच भर भी न हटें। कभी अतीव कठोर कभी अति कोमल। कभी ऐसे सजग कि बड़े-से-बड़े लम्पट से धोखा न खायँ और कभी ऐसे निरीह कि साधारण व्यक्ति भी ठग कर चला जाय—इन्हीं पराकाष्ठाओं को लेकर अश्क जी के इस आत्म-विरोधी स्वभाव के सम्बन्ध में इतनी दिलचस्प घटनाएँ हैं कि छोटे से लेख में उन पर पूरा प्रकाश नहीं डाला जा सकता।

लेकिन जिस प्रकार प्रत्येक सामान्य धर्म का कोई न कोई अपवाद होता है, अश्क जी के इस आत्म-विरोधी सीमाओं पर चलने वाले स्वभाव के भी अपवाद हैं। पिछले सात वर्ष में मैंने उन के स्वभाव के ऐसे पहलू भी देखे हैं जिन की केवल एक ही सीमा है। दूसरी आत्म-विरोधी सीमा नहीं।

इन के लिखने ही को लीजिए। लिखने की इन को सनक सी है। और यह सनक पराकाष्ठा ही का दूसरा नाम है। प्रायः लेखकों के अपने उर्वर और ऊसर काल (Periods) होते हैं। कभी ऐसा समय आता है जब उन की प्रेरणा बाढ़ पर आये हुए समुद्र सी बलवती हो बढ़ी आती है और वे रात-दिन निरन्तर लिखे चले जाते हैं। फिर ऐसा समय भी आता है कि प्रेरणा की बाढ़ उतर जाती है और उन का मस्तिष्क सूखे सागर तट सा हो जाता है। वे हफ़्तों, महीनों और कई बार वर्षों कुछ नहीं लिख पाते। अश्क जी को मैंने देखा है कि ये सदा लिखते हैं। वर्षा, घाम और शीत में अविरत बहने वाली नदी की भाँति इन की प्रेरणा स्थायी रहती है। ये दुखी हों अथवा सुखी, नौकर हों अथवा बेकार, अकेले हों अथवा दुकेले, सदा लिखने के लिए समय निकाल लेते हैं। इनके मित्र इनकी इस प्रवृत्ति को 'सनक' का नाम देते हैं। यह सनक है भी, पर इनकी यह सनक एक ही सीमा पर चली जाती है। इसकी दूसरी सीमा अर्थात् निष्क्रियता का अश्क जी के यहाँ सर्वथा अभाव ही है। लिखे बिना ये रह ही नहीं पाते। अभी एक वर्ष पहले जब

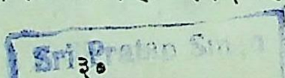
डाक्टरों ने यक्ष्मा का फ़तवा देते हुए आदेश दिया कि इन्हें पूर्ण आराम लेना चाहिए तो मैं समझती थी कि अब ये कुछ दिन चैन लेंगे। अलग कमरे में लिटा दिया और दरवाज़ा लगा दिया कि न कोई होगा, न ये बात करेंगे। इन्हों ने न लिखा, न पढ़ा, न बोले परन्तु लेटे-लेटे स्मृति के बल पर ही "दीप जलेगा" सी लम्बी कविता बनाते रहे। एक महीने बाद मैं इन्हें पंचगनी ले आई और चार महीने तक इन्हें काम करने की आज्ञा न मिली तो ये लेटे-लेटे खंड-काव्य लिखते रहे। "बरगद की बेटी" इन्हों ने तभी समाप्त किया।

साधारणत: अश्क जी सगे-सबन्धियों और मित्रों से उसी मात्रा में स्नेह करते हैं जिस मात्रा में इन्हें उन से स्नेह मिलता है, किन्तु माँ, बड़े भाई और सब से छोटा भाई इस के अपवाद हैं। माँ और बड़ा भाई चाहे इन से कैसा भी रूखा व्यवहार क्यों न करें, चाहे कभी कितनी भी ठेस पहुँचा दें, ये उन की उदासीनता और रुखाई का बदला सदैव स्नेह से देते हैं। उन के व्यवहार से दुखी न होते हों, यह बात नहीं। कभी-कभी कोई छोटी-मोटी घटना रातों की नींद हराम कर देती है। ये उन के व्यवहार पर खीझते-दुखते, रोते-चिल्लाते और क्रुद्ध भी हो जाते हैं, किन्तु उन से मिलने पर सब कुछ भूल जाते हैं और उन के दुख से दुखी और चिन्ता से चिन्तित हो उठते हैं।

इसी प्रकार मित्रों के सम्बन्ध में भी इन का स्नेह एक ही सीमा-रेखा पर चलता दिखाई देता है। अश्क जी कहा करते हैं कि जिसे हम पसन्द करते हैं, प्यार करते हैं, जिस की मित्रता चाहते हैं, उस की त्रुटियों को देखना अनावश्यक है। उस की संगति से हमें जो सुख मिलता है, वही हमारा ध्येय होना चाहिए। मित्रता इक-तरफ़ी-सी चीज़ है। जिसे हम चाहते हैं, उसे मित्र बनाये रखने के लिए उस की छोटी-मोटी बातों पर ध्यान न देकर, निरन्तर स्नेह देना चाहिए। प्रतिशोध की तो बात

ही वहाँ नहीं उठती। और मैंने देखा है कि अपने घनिष्ट मित्रों के सम्बन्ध में अश्क जी सदा अपने इस कथन का पालन करते हैं।

अश्क जी की एक और भी सनक थी जिसकी दूसरी सीमा मैंने नहीं देखी और वह थी नियमित रूप से व्यायाम करना। विवाह के बाद जब मैं पहले-पहल दिल्ली आई तो मैंने देखा कि सुबह उठ कर लंगोट लगा, तेल की मालिश करके, डंड पेलते, बैठकें निकालते और फ्री-हैंड-व्यायाम करते हैं। बेदी साहब उन दिनों दिल्ली आये हुए थे। उन्हों ने कभी अश्क जी को फ्री-हैंड-व्यायाम करते न देखा था। उस उछल-कूद को देख कर उन्हों ने अश्क जी को 'हनुमान' की उपाधि दे दी, लेकिन अश्क जी धुन के पक्के हैं। किसी के मज़ाक अथवा व्यंग्य को सुन कर अपनी धुन नहीं छोड़ते। मुझे पेचिश की पुरानी शिकायत है, दौरा पड़ता है तो निढाल हो जाती हूँ। एक दिन मुझ से कहने लगे 'तुम व्यायाम नहीं करती, इसी लिए तुम्हारी आँतें कमज़ोर हो गई हैं'। हमारे यहाँ पुराने ज़माने की स्त्रियाँ घर के काम-काज के रूप में और पश्चिम की स्त्रियाँ नाच और दूसरे व्यायामों के रूप में जितनी कसरत करती हैं और स्वस्थ रहती हैं, उस का ज़िक्र करते हुए, इन्हों ने व्यायाम के महत्व पर छोटा मोटा भाषण दे डाला। साँस रोक कर, सीने को फुला कर मुझे बताने लगे, किस प्रकार उस व्यायाम से कमर पतली हो जाती है और सीना फैलता है और शरीर की भी तिकोन बन जाती है और परामर्श दिया कि और कुछ नहीं तो पेट अन्दर कर, साँस रोक, सीना फुला, रस्सी ही फाँदा करूँ, व्यायाम की महत्ता पर इतने लेक्चर इन्होंने मुझे उन दिनों दिये और बेदी साहब के कथनानुसार 'हनुमान' की भाँति कूद-फाँद कर इतनी तरह के व्यायाम बताये कि मैं भी व्यायाम द्वारा अपनी बीमारी दूर करने और कमर पतली बनाने का प्रयास कर देखने को तैयार हो गई। (यहाँ मैं बता दूँ कि



न अश्क जी मोटे हैं न मैं, किन्तु उनकी कमर तो साँस रोकने पर उल्टी तिकोन के निचले कोण सी बन जाती थी, मेरी कदाचित न बनती थी) कुछ दिनों तक तो मैंने कूद-फाँद की, लेकिन एक तो मुझे सुबह उठने का अभ्यास नहीं, फिर यह व्यायाम मुझे अत्यन्त शुष्क और ऊबा देने वाला लगा और आँतों को कोई लाभ न पहुँचा। कुछ दिन पश्चात् ही मैंने हथियार डाल दिये और विनीत भाव से कहा कि कमर की तिकोन आप ही को मुबारक रहे, मुझे किसी सौन्दर्य-प्रतिद्वन्द्वता में तो बैठना नहीं। मुझे क्षमा कीजिए।

अश्क जी ने फिर मुझे विवश नहीं किया, परन्तु स्वयं यह उछल-कूद करते रहे। समय होता तो मालिश भी करते, नहीं डंड बैठकें चाहे न पेलें पर उछल-कूद ज़रूर करते। कई बार मैं नाश्ता रख देती, ये लगभग नाश्ते पर बैठ जाते तो इन्हें व्यायाम का ख्याल आता। "बस दस मिनट के लिए क्षमा करो!" कह कर भाग जाते और पेट दबा, सीना फुला, शरीर को तिकोन बना, उछल-कूद कर आते। आकर अपने संयम की दाद चाहते। कभी-कभी शीशा देखते तो अफ़सोस होता कि इतने संयम और व्यायाम के बावजूद कल्ले पिचके जा रहे हैं। तब बाज़ू को दोहरा कर, उभरे हुए पट्ठे की सख्ती देख कर संतोष कर लेते कि व्यायाम से शरीर में लोहे की सी दृढ़ता आ रही है।

मैं जब से आई हूँ, मैंने इन्हें नित्य-प्रति व्यायाम करते देखा है। लेकिन इतने व्यायाम के बावजूद इन्हें पेट में कष्ट रहने लगा। अपनी सनक में इन्होंने व्यायाम की मात्रा कुछ और बढ़ा दी और किसी भले-मानुस के कहने पर उबली हुई तरकारियाँ खानी आरम्भ कर दीं। अपने स्वभाव के अनुसार इस बात को भी एक सीमा तक ले गये ? परिणाम यह है कि पिछले एक वर्ष से बीमार पड़े हैं। समय पर पता

चल गया कि बीमारी आमाशय में नहीं, फेफड़े में है, नहीं जाने क्या बीतती। जब प्रातः उठ कर और साँस रोक कर, शरीर की तिकोन बनाया करते थे, उस समय आवश्यकता यह थी कि बिस्तर पर कुछ और लेट कर आराम करते और उबली हुई तरकारियों के स्थान पर पौष्टिक भोजन खाते। यह सब जान कर अब ये एक ज़ोर का ठहाका मारना चाहते हैं, किन्तु अब इस की भी आज्ञा नहीं, क्योंकि इस से फेफड़े को हानि पहुँचती है।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि यदि अश्क जी बीमार न पड़ते तो इन की यह सनक सदैव रहती। इस की दूसरी सीमा अर्थात् पूर्ण आराम ये कभी न ले पाते।

अब यक्ष्मा से पीड़ित पिछले एक वर्ष से पंचगनी के एकान्त में पड़े हैं। मन-मस्तिष्क आठों पहर व्यस्त रहते हैं पर तन से आराम लेने को विवश हैं। यक्ष्मा की इस विवशता ने इन्हें थोड़ा बहुत दार्शनिक बना दिया है और इन का स्वभाव अपनी पराकाष्ठा-प्रियता छोड़ कर मध्य की रेखा पकड़ना सीख रहा है पर वह सीख पायगा और स्वस्थ होने पर वह सीख स्थायी रहेगी, यह कहना कठिन है।

पंचगनी
दिसम्बर १९४७

कौशल्या अश्क



कौशल्या व्याइक

कौशल्या—एक रेखा-चित्र

अश्क

कौशल्या छोटे क़द और छरहरे शरीर की, साधारण दिखाई देने पर भी असाधारण प्रतिभा की, स्त्री है। रंग उस का काला है न गोरा। पंजाबी इस रंग को मुश्की कहते हैं और पंजाबी भाषा में इस रंग के सम्बन्ध में बड़ी दिलचस्प लोकोक्ति प्रसिद्ध है—'रंग मुश्की, न खंघ न खुश्की'—अर्थात् रंग मुश्की, न खाँसी न खुश्की—खुश्की से अभिप्राय कदाचित स्वभाव की खुश्की अर्थात् रुखाई से है। और स्वभाव में रुखाई का न होना स्वयं स्वास्थ्य का द्योतक है। मैं आज तक नहीं समझ सका कि इस रंग को स्वास्थ्य अथवा हँसमुखता का प्रतीक क्यों माना जाता है। जहाँ तक कौशल्या का सम्बन्ध है, वह तो इस रंग के बावजूद सदा बीमार रहती है और स्वभाव में भी (यदि उस की हँसमुखता और चिड़चिड़ेपन को मिला कर औसत लगाई जाय तो) कदाचित चिड़चिड़ेपन ही का पलड़ा भारी निकले। और जो बात कौशल्या के सम्बन्ध में कही जा सकती है, वह (मेरे जैसे) दूसरे

मुश्की रंग वालों पर भी लागू हो सकती है। लेकिन मेरे विचार में पंजाबियों को अपना यह रंग पसन्द है। न अधिकांश पठानों की भाँति गोरा, न अधिकांश मदरासियों की तरह काला और उन्हों ने इस रंग को स्वास्थ्य का चिन्ह मान लिया है।

कौशल्या को पत्र लिखने में अपूर्व दक्षता प्राप्त है। उस के सम्बन्ध में कुछ लिखते समय मुझे सब से पहले इसी बात का ध्यान क्यों आया ? कदाचित इसलिए कि मैंने कौशल्या को देखने से पहले उस के पत्रों को देखा ! यह बात कुछ रोमानी कहानियों की-सी लगेगी (कौशल्या को अभी तक इस का विश्वास नहीं और कदाचित पाठकों को भी न आये) कि मैंने उस का पहला पत्र पाने के बाद ही उस से विवाह करने का इरादा कर लिया था। बेदी (उर्दू के प्रसिद्ध लेखक राजिन्दर सिंह बेदी) मेरे इस फक्कड़पने के गवाह हैं। इस के बाद जो हुआ, वह दिलचस्प भी है, दुखद भी और उलझा हुआ भी। क्योंकि उस में एक ओर असमय में प्रौढ़ हो जाने वाले असमंजस-प्रिय व्यक्ति का अनिश्चय और सहज-ज्ञान के बदले तर्क से काम लेकर सीधे तारों को उलझा देने की प्रवृत्ति थी तथा दूसरी ओर एक सरल युवती की प्रबल इच्छा-शक्ति ! किन्तु यह बात मैं आज सात वर्ष बाद भी बे-झिझक कह सकता हूँ कि यदि कौशल्या को पत्र लिखने में, और बात सच्ची हो या झूठी, लिखी हुई पंक्तियों में हृदय की समस्त भावना भर देने में अपूर्व-दक्षता प्राप्त न होती तो हमारे जीवन के अतीव उलझे हुए तार कभी न सुलझ पाते।

कौशल्या ने लाहौर के बड़े ऊँचे और सम्पन्न व्यापारिक घराने में जन्म लिया, किन्तु जैसा कि उसने स्वयं एक जगह लिखा है— बचपन के दिन अतीव लाड़, प्यार और बाहुल्य में व्यतीत कर, बचपन

की समाप्ति पर, अपने आप को उस ने 'मणि माणक में घिरे उस व्यक्ति का-सा पाया जिसे उन सब को छू न सकने का अभिशाप दे दिया गया हो।' वह लगभग बारह वर्ष की थी जब २८ दिन के अन्तर से, पहले उस के पिता और फिर माता, उस लाड़-प्यार और बाहुल्य की मात्र धुँधली सी स्मृति देकर, कौशल्या को आस-पास की उस सम्पन्नता में बड़े अभाव की संगिनी बना कर इस संसार से चले गये। उस समय जब उसके सगे-सम्बन्धी, उसे अनाथ समझकर, किसी 'ज़रूरतमंद' पर सम्पन्न व्यक्ति के हाथ सौंप कर इस बोझ को अपने कन्धों से उतारने की चिन्ता में थे, कौशल्या ने अचानक वर्षों से छोड़ी हुई पढ़ाई का तार फिर से पकड़ने का निश्चय कर लिया और फिर सगे-सम्बन्धियों के समस्त विरोध और असहयोग, निन्दा और लाँच्छना के बावजूद अपने छोटे मामा की सहायता से वह निरन्तर पढ़ती रही।

वह केवल चार श्रेणी तक पढ़ी थी और पढ़ाई छोड़े उसे चार वष हो चुके थे, परन्तु उसने 'रत्न' 'भूषण' के पश्चात मिडिल की परीक्षा दी; फिर दो वर्ष बाद प्राइवेट रूप से मैट्रिक किया और न केवल उसमें सफल रही बल्कि छात्रवृत्ति पा गई। इस के बाद बी० ए० तक वह सदैव अपनी श्रेणी और अपने कालेज में सर्व-प्रथम रही। बी० टी० करने के पश्चात् वह रेनाला में, नयी-नयी हैडमिस्ट्रेस हुई थी, जब मैं लाहौर में पहले-पहल उस से मिला।

वह मुलाक़ात भी, आज जब मैं उसे सात वर्ष बाद देखता हूँ, बड़ी दिलचस्प लगती है। ठीक वर्ष और महीना तो मुझे याद नहीं, पर कौशल्या के चन्द पत्र आ चुके थे, और एक पत्र में उसने मुलाक़ात की इच्छा प्रकट की थी। हम ने तय किया था कि इतवार को लाहौर में मिलेंगे। वह रेनाला से और मैं प्रीतनगर से लाहौर पहुँच जाऊँगा। दुर्भाग्य-वश उस इतवार से तीन दिन पहले हॉकी खेलते-खेलते मेरी

आँख पर ज़बर्दस्त चोट आ गई। चश्मे का शीशा टूट कर आँख के नीचे खुभ गया, गोश्त का लोथड़ा लटक गया और घाव आँख की पुतली के पास तक पहुँच गया। डाक्टर दो मील दूर 'लोपोके' में रहता था। संध्या का अँधेरा गहरा हो रहा था। उस समय (कम-से कम मुझ ऐसे गरीब के लिए) उस के आने की कोई सम्भावना न थी। दूसरे दिन उस के आते-आते यदि घाव में पीप पड़ जाती तो मेरा काना होना यकीनी था और कौशल्या लाख भावुक सही, काने कवि से विवाह करने में उसको भी आपत्ति होती (यों इन स्त्रियों का कोई भरोसा नहीं। चाहें तो काने छोड़, अंधे से लौ लगा लें) उस समय पड़ोसियों के 'न' 'न' करने पर भी मैंने रुई का फाहा स्पिरिट में तर किया; दाँत भींचे और उसे घाव पर रख दिया। दूसरे दिन जब डाक्टर आया तो मालूम हुआ कि उस फाहे ने मेरी आँख बचाई।

इधर की चिन्ता हटी तो कौशल्या के साथ मुलाक़ात का ख्याल आया। कार्ड लिख कर विवशता प्रकट करने का समय न था। तार देने के लिए आठ दस मील जाना पड़ता था। कौशल्या रेनाला, ज़िला मिण्टगुमरी से लाहौर आने वाली थी और मैं न चाहता था कि वह निराश हो कर वापस चली जाय। फिर उसे देखने की उत्सुकता भी थी, इसलिए यद्यपि इतवार को पट्टी न उतरी थी और मेरी तबीयत भी कुछ ख़राब थी तो भी मैं लाहौर के लिए चल पड़ा।

जब कौशल्या ने भाई साहब की सरजरी की चिक उठा दोनों हाथ जोड़ कर 'नमस्कार' किया तो मुझे पहचानने में मुश्किल न हुई। मेरा छोटा भाई उस के मामा के यहाँ यह बताने गया था कि मैं आ गया हूँ; आँख पर चोट के कारण पट्टी बाँधे हुए हूँ और उन के यहाँ नहीं आ सकता। भाई ने आकर कौशल्या के सम्बन्ध में कुछ ज़रूरी बातें भी बता दी थीं।

क्षण भर को कौशल्या वहीं दरवाज़े में खड़ी रही। वह खादी की धोती पहने थी। मोटी सीधे-साधे किनारे की धोती। पिछले सात वर्ष के वैवाहिक जीवन में मैंने कौशल्या को कभी ही खादी की धोती पहने देखा है। पर न जाने क्यों उस दिन उस ने खादी ही की धोती पहन रक्खी थी। उस मोटी धोती में वह बिलकुल साधारण सी लड़की जान पड़ी। केवल उस की आँखों में असाधारण चमक थी, पर अपने छोटे भाई की सूचना के अनुसार मैं किसी सुन्दर लड़की की प्रतीक्षा में बैठा भी न था और पत्नी के लिए मैंने बहुत पहले तय कर रक्खा था कि यदि सुन्दर और सुशिक्षित मिल जाय तो भाग्य. नहीं सुन्दर चाहे न हो, (कुरूप भी न हो) पर पढ़ी-लिखी और समझदार अवश्य हो। इसी लिए पहली दृष्टि में कौशल्या मुझे बुरी न लगी। फिर जब कुछ घण्टे बाद बेदी के घर लगातार बातें करते हुए मुझे सहसा ख्याल आया कि मैं अकेला ही बकता चला जा रहा हूँ और मैंने कहा "मेरी तो बोलते चले जाने की आदत है, कुछ आप भी तो कहिए !" और "मैंतो सुनने ही आई हूँ !" कहते हुए वह कुछ शरमाती हुई सी मुस्कराई तो मुझे उस की वह मुस्कान बड़ी भली लगी।

मुझे हलका सा ज्वर था। मैं पलंग पर लेटा हुआ था और वह समीप ही कुर्सी पर बैठी थी। उस का सारा मुख उस मुस्कान से उद्भासित हो उठा। इसके बाद वह जब भी कभी उस शर्मीलेपन से मुस्कराई है, मुझे सदा उस पहली मुलाक़ात की याद हो आई है।

अच्छा मुस्कराने में, अच्छा पत्र लिखने की भाँति, कौशल्या को किसी सतर्क प्रयास की आवश्यकता नहीं पड़ती। वह कई तरह से मुस्कराती है। अनायास मुस्कराती है और यह सत्य है कि मैंने उस की कई मुस्कानों को अपने मानसपट पर उतार रक्खा है। जब उस का

छोटा भाई, मेरा छोटा भाई. हमारा कोई प्रिय मित्र, अथवा कौशल्या की कोई प्रिय सहेली; कहने का तात्पर्य यह कि कोई ऐसा व्यक्ति जिस के आगमन से कौशल्या को प्रसन्नता हो, हमारे घर आता है तो कौशल्या के ओठों पर कुछ ऐसी मुस्कान खेलने लगती है, जिस की दीप्ति से उस का सारा मुख चमक उठता है और एक असाधारण सौन्दर्य वहाँ, जैसे प्रथम बार, दृष्टिगोचर होने लगता है। उन क्षणों में, जैसे किसी चमत्कार के प्रभाव, से कौशल्या एकदम बदल जाती है। और मुझे सदैव टॉलस्टॉय के अमर उपन्यास "वार एँड पीस" की नायिका नात्शा की याद हो आती है, जिस का मुख ऐसे ही क्षणों में एक विचित्र दीप्ति से जगमगा उठता था। उपन्यास के अन्त में जब उस का एक पुराना प्रेमी, कैप्टन डैनीसाव उसे अपने बच्चे के साथ देखता है तो उस की साधारण सी आकृति को देख कर चकित रह जाता है। सोचने लगता है कि क्या यही वह नात्शा है जिस ने कभी उसे पागल बना दिया था ! और वह मन-ही-मन हँस उठता है। लेकिन तभी नात्शा का प्रिय पति पायरी मास्को से वापस आता है और उल्लास के पुलक का कुछ ऐसा प्रकाश नात्शा के चेहरे से झरने लगता है कि डैनीसाव आश्चर्यान्वित सा उसे तकता रह जाता है। कुछ ऐसा सौन्दर्य, कुछ ऐसी मनोरमता, कुछ ऐसा आह्लाद-भरा स्नेह वहाँ होता है कि डैनीसाव को लगता है मानो उस ने पहली बार नात्शा को देखा है।

मैं जब भी कौशल्या के मुख पर स्नेह के आह्लाद से भरी वह आभा देखता हूँ तो हमेशा सोचता हूँ कि उस पहली मुलाक़ात के दिन उसे क्या हो गया था ! वह क्यों खादी की वह मोटी-बेजान साड़ी पहने सन्यासिनी सी बनी मुझ से मिलने चली आई थी। परन्तु कदाचित् यही प्रश्न वह मेरी सूरत देख कर अपने आप से करती होगी, क्योंकि मेरी एक आँख पर पट्टी बँधी थी और मैं निक्कर-कमीज़ पहने था,

जिन में (ऐसा कौशल्या कहती है) तीन-तीन बकलस और तीन-तीन स्टड लगे थे। हो सकता है हम दोनों के मन में अज्ञात रूप से यह भावना काम करती हो कि हम जो हैं, उससे भी कम दिखाई दें। जो भी हो कौशल्या की लौह-गम्भीरता के सामने, उस की यह पिघले सोने की-सी मुस्कान न जाने किस चमत्कार से उस के मुख को एकदम परिवर्त्तित कर उसे एक विचित्र मनोरमता प्रदान कर देती है।

कटु मुस्कान नाम की चीज़ भी मैंने सुन रक्खी थी, देखी न थी। कौशल्या के साथ अपने विवाह के पहले दिनों में (मैं स्वीकार करता हूँ कि अधिकांशतः अपनी हिमाक़तों के कारण) मैंने उसे कौशल्या के ओठों पर देखा भी है। ओफ़ ! मुस्कान के मधु में इतना विष भी हो सकता है ! परन्तु मैं सच कहूँ, मुझे उस की वह कटु, व्यंग्यमयी, तिक्त, विषैली मुस्कान भी बड़ी भली लगती थी और यह सत्य है कि कई बार मैं केवल वह विष भरा शहद उस के ओठों पर देखने के लिए उसे छेड़ दिया करता था। कौशल्या में विनोद-वृत्ति (sense of humour) कभी ज़्यादा न थी। (अब भी उतनी नहीं, यद्यपि वह मुझे बनाना अथवा जैसे अँग्रेज़ी में कहते हैं 'मेरी क़ीमत पर' हँसना सीख गई है।) उन दिनों मैं जब भी उसे छेड़ता, या मेरी किसी बात से वह सहमत न होती तो मेरी बात का कोई उत्तर दिये बिना, तीखी निगाह से मेरी ओर देखते हुए कुछ इस तरह मुस्कराती कि मैं खिन्न होने के बावजूद उस की ओर देखता रह जाता। उस कटु-मुस्कान को मैं शब्दों में व्यक्त नहीं कर सकता। इस के बाद मैंने उस यन्त्रणा-प्रियता को छोड़ दिया, क्योंकि उस से मुझे भी तकलीफ़ पहुँचने लगी। और अब तो वर्षों से वह तिक्त मुस्कान मैंने कौशल्या के ओठों पर नहीं देखी। परन्तु वह मेरे मस्तिष्क में अब भी सुरक्षित है।

यह अजीब बात है कि कभी जब कौशल्या अपनी किसी बुराई

को स्वीकार करती हुई अनायास मुस्करा कर कह देती है कि 'हाँ मैं तो ऐसी हूँ' या 'जो मुझ से बुरा करेंगे, बुरा पायेंगे' आदि आदि तो मुझे उस की वह आत्म-व्यापक मुस्कान सभी मुस्कानों से सुन्दर लगती है। मैं चाहता हूँ कि उसे उस के इस व्यापक मूड में मुस्कराते देखूँ, पर मुसीबत यह है कि वह मूड रोज़-रोज़ नहीं आता। बुराई का ज़िक्र चलने पर मुस्कान के बदले आँखों में क्रोधाग्नि लपलपा उठने की सम्भावना अधिक रहती है और ओठ मुस्कराने की बजाय व्यंग्य-बाण छोड़ने को अधिक आतुर हो उठते हैं।

कौशल्या के पत्र और उस की मुस्कान जैसे उस के हृदय की सरलता और निष्कपटता का पता देती है और अनायास ही उन में उस के हृदय का विष अथवा मधु भर जाता है, उसी प्रकार उस की चाल उस की प्रबल इच्छा-शक्ति की द्योतक है। अब तो मेरी ढिलमिल यक़ीनी और असमंजस का कौशल्या पर भी प्रभाव पड़ा है, और उसकी चाल में वह काट और तेज़ी नहीं रही, पर जब मैं पहले पहल उससे मिला था तो उस की चाल का मुझ पर विशेष प्रभाव पड़ा था। उस गति में न वह नज़ाकत और नफ़ासत थी जिस के लिए लेखक 'माप-माप कर पग धरने' का मुहाविरा प्रयोग में लाते हैं, न वह चांचल्य और मस्ती थी जिस के सम्बन्ध में कवि कहते हैं कि 'पग-पग पर प्रलय उठाती है', बल्कि उस नदी की तेज़ी थी, जो मार्ग काटती-बनाती बढ़ी चली जाती है। कौशल्या ने अपनी कठिन परिस्थितियों में जिस दृढ़ता और प्रबल इच्छा-शक्ति से मार्ग बनाया, वह जैसे उस की चाल में मूर्तिमान हो उठी है। मुझे यह चाल पसन्द है, क्योंकि बीमारी के इन दिनों, जब मुझसे कहा जाता है—'चलने की अपेक्षा खड़े रहो, खड़े रहने की अपेक्षा बैठो और बैठने की अपेक्षा लेटे रहो।' तेज़ चलना मेरे लिए स्वप्न हो गया

है और कौशल्या भी मेरे साथ बड़े धीरे-धीरे चलती है, तो मुझे अपने उस आरम्भिक जीवन का स्मरण हो आता है जब मैं स्वयं इसी तेज़ी से चला करता था। इसी तरह बाज़ारों को काटता हुआ सा निकल जाता था, और शीला-मेरी पहली पत्नी, कुछ अपने दोहरे शरीर और कुछ अपने मन्थर-स्वभाव के कारण मेरे पीछे रह जाती थी। अब मैं साधारण तेज़ी से चलने पर भी कौशल्या से पीछे रह जाता हूँ।

अब तो कौशल्या कुछ मेरे कारण और कुछ पिछले सात आठ वर्षों की परिस्थितियों के कारण (जिनमें वह लड़की से माँ भी बन गई है) स्वयं अपेक्षाकृत धीरे चलती है, पर मुझे दिल्ली की वे शामें याद हैं, जब वह अपनी उसी विश्वास-भरी तीव्र-गति से मेरे साथ सैर को, क्रय-विक्रय को अथवा मिलिट्री की वर्दी पहने दफ़्तर को जाती थी और तेज़ चलना तो दूर रहा, मेरे साथ भागने में भी न हिचकिचाती थी।

तीस हज़ारी से एक बस नयी-दिल्ली जाया करती थी। कई बार जब हम बूलवर्ड रोड से क्वीन्ज़ रोड़ की ओर मुड़ते थे तो सामने फ़रलाँग भर के अन्तर पर बस खड़ी दिखाई देती थी। इस डर से कि हमारे वहाँ पहुँचते-पहुँचते बस चल न पड़े और हमें आध घंटा तक दूसरी बस की प्रतीक्षा करने के लिए विवश न होना पड़े, हम प्रायः भागने लगते और समय पर जा पहुँचते।

एक शाम की बात है। मेरे मित्र और उर्दू के प्रसिद्ध कहानी-लेखक महेन्द्रनाथ हमारे साथ थे। हम बूलवर्ड रोड से क्वीन्ज़ रोड की ओर जो मुड़े तो बस तीस हज़ारी पर खड़ी घरघरा रही थी। मैंने कहा, "भागें" कौशल्या ने कहा, "महेन्द्र भाई से पूछिए।" महेन्द्र ने समझा हम मज़ाक कर रहे हैं। बोले, "भागिए!" परन्तु जब मैं और कौशल्या सचमुच भागने लगे तो वे चौंके। चन्द क़दम भागे, फिर उन्होंने चाल

धीमो कर दी और बोले, "हटाओ जी क्यों जान दिये देते हो। दूसरी बस में जायेंगे।"

मुझे तब न जाने बस या गाड़ी को खड़े देख कर क्या हो जाता था? भाग कर सवार होने में, लड़-झगड़ कर सवार होने से मैं कभी बाज़ नहीं रहा। बम्बई के दिनों में, एक बार चलती बस में चढ़ते-चढ़ते और एक बार दूसरे प्लेटफ़ार्म पर खड़ी लोकल-ट्रेन में सवार होने की कोशिश में, लाइन फलाँगते हुए, मैं मरते-मरते बचा हूँ। सदा ऐसे अवसरों के बाद मन-ही-मन प्रण करता कि अब कभी ऐसा न करूँगा। कई बार कौशल्या के सामने क़समें खाता। परन्तु फिर जब समय आता, भागने लगता और मज़ा यह कि जब भी ऐसे अवसर पर कौशल्या मेरे साथ होती, वह भी अपने सब उपदेश और नसीहतबाज़ी भूल कर मेरे साथ भागने लगती।

उन दिनों कौशल्या नयी-नयी बम्बई आई थी। एक सुबह स्टूडियो जाते समय मैंने उससे कहा कि वह साँझ को दफ़्तर आ जाय। वहीं से हम दादर जायेंगे और सम्भव हुआ तो सिनेमा देखेंगे। स्टूडियो मेरे घर से एक स्टेशन इधर गोरे-गाँव में था और स्टेशन से दो डेढ़ फ़रलाँग होगा। शाम को जब हम स्टूडियो से निकले तो अभी आधे रास्ते ही में थे कि दूर गाड़ी के आने की ध्वनि सुनाई दी। मैंने कहा, "चलो भाग कर गाड़ी पकड़ लें, नहीं बीस, तीस मिनट बैठना पड़ेगा।"

हम दोनों भागने लगे। कुछ दूसरे लोग भी भाग रहे थे। इन में से एक को छोड़ कर सब ने हिम्मत हार दी। हम भागते चले गये। गाड़ी स्टेशन पर आ चुकी थी और नम्बर दो प्लेटफ़ार्म पर खड़ी थी। एक महाशय, जो हम से पहले पहुँचे थे, इस असमंजस में नम्बर एक प्लेटफ़ार्म पर खड़े थे कि लाइनें फलाँगें या न फलाँगें। हम आते ही कूदे और लाइनें फलाँग कर लगभग चलती हुई गाड़ी में पिछली ओर से चढ़ गये। मेरे

साथ कौशल्या को इस तेज़ी से लाइन फलाँग कर गाड़ी में चढ़ते देख, वे महाशय चकित से खड़े रह गये। उन की आँखों का वह विस्मय-भरा भाव आज तक भी मुझे याद है।

परन्तु गाड़ी पर सवार होने की जल्दी में, हम ने यह न देखा कि गाड़ी फास्ट (Fast) है। बाँदरा के बाद चली तो सीधी सैण्डहर्स्ट रोड जाकर रुकी। हम दादर में उतरने के लिए खिड़की में आ गये थे। जब गाड़ी वहाँ पर न रुकी और हम पर अपनी हिमाकत प्रकट हुई तो हम जाते हुए स्टेशन को हसरत से देखते और अपने आपको कोसते हुए खड़े रहे। सिनेमा तो क्या देखते उलटे सैण्डहर्स्ट रोड जाकर चार्ज हो गये।

कौशल्या में उतनी ही स्फूर्ति और सरगर्मी है जितनी मुझ में। मैं तो खैर अपनी बीमारी के कारण अपनी समस्त स्फूर्ति भूल चुका हूँ, पर अपनी बीमारी के बावजूद (उसे पेचिश का पुराना रोग है) कौशल्या आज भी उतनी ही अनलस और उद्योगशील है। आज सात-आठ वर्ष के वैवाहिक जीवन के पश्चात्, बीसियों विपत्तियों, उलझनों और घरेलू झगड़ों के कारण उसकी चाल की तीव्रता में चाहे कमी आ गई हो, पर उस की कर्मठता और इच्छा-शक्ति की प्रबलता में कमी नहीं आई। मुझे कई ऐसे अवसर याद हैं जब मैंने उस की इस कर्मठता को क्रिया-शील देखा है :—

अभी सवा साल पहले १६४६ के दिसम्बर में जब मुझ पर शूल रोग ने प्रबल आक्रमण किया (जो बाद में यक्ष्मा में परिणत हो गया) और मैंने कौशल्या को तार दिया तो वह दिल्ली में थी। वास्तव में मेरी तबीयत अर्से से खराब रहती थी। इसलिए फ़िल्मी नौकरी छोड़ कर पहले

की तरह लाहौर में स्वतन्त्र रूप से शुद्ध साहित्यिक जीवन व्यतीत करने की साध थी। कौशल्या काफ़ी सामान लेकर उसे छोड़ने लाहौर गई थी। वहाँ बीमार हो गई तो आते आते दिल्ली के प्रसिद्ध होम्योपैथ डाक्टर गुहा को दिखाने उतर गई। तभी मेरा तार पहुँचा और बिना डाक्टर को दिखाये वह बम्बई चली आई। मैं काफ़ी बीमार था, शूल के दोहरे आक्रमण ने मुझे निर्जीव सा कर दिया था। लेकिन कौशल्या को देखकर तो मैं अवाक् रह गया। पेचिश की शिकायत उसे सदा रहती है, लाहौर जाने से पहले भी थी, लेकिन वह इतनी प्रबल है कि उस के कारण वह कंकाल मात्र रह गई है, यह मुझे ज्ञात न था।

किन्तु ज्यों ही कौशल्या ने मुझे उस प्रकार निढाल देखा, अपना कष्ट भूलकर अपनी उसी इच्छा-शक्ति के बल पर वह काम में जुट गई। डेढ़ महीने तक वह मुझ को इस डाक्टर अथवा उस वैद्य को दिखाती रही। जब कुछ लाभ न हुआ, बल्कि शाम को मुझे ज्वर रहने लगा तो मैं के० ई० एम० अस्पताल में बीमारी का निरीक्षण कराने को दाखिल हो गया। २२ दिन के निरीक्षण पर ज्ञात हुआ कि यक्ष्मा के कीटाणु तो न जाने कब से मेरे फेफड़ों में आँख-मिचौनी खेल रहे थे, पर मेरी प्रतिरोध-शक्ति को छू न पाये थे। अब कई कारणों से मेरी शक्ति कमज़ोर पड़ गई थी और दायें फेफड़े के ऊपरी भाग में उन्होंने उसे धर दबाया था। उस दुर्बल सहन-शक्ति को सबल बनाने के हेतु लम्बे आराम, इलाज और पौष्टिक भोजन की आवश्यकता थी।

कौशल्या ने जब सुना कि मुझे यक्ष्मा है, सारा प्रोग्राम बदलना पड़ेगा, लाहौर जाने के बदले कदाचित् पंचगनी जाना पड़े और न जाने दूसरी किस-किस कठिनाई का सामना करना पड़े (स्वभावतः मेरी मृत्यु, अपनी बीमारी और बच्चे के पालने का प्रश्न उस के सामने आया होगा।) तो उसने तत्काल सब से पहले अपनी बीमारी की ओर ध्यान दिया और

एक महीने के अन्दर (जिस बीच मैं पूर्ण आराम लेता रहा और वह बम्बई के एक प्रख्यात यक्ष्मा-स्पेशलिस्ट के परामर्शानुसार मेरे छोटे भाई नरेन्द्र की सहायता से मुझे पंचगनी पहुँचाने की व्यवस्था करती रही) उसने अपने स्वास्थ्य को बीसियों दवाइयों और इंजेक्शनों की सहायता से इस हद तक सुधार लिया कि वह इस नयी कठिनाई का सफलता-पूर्वक मुकाबिला कर सके। बीमारी उस की अब भी दूर नहीं हुई, पर वह अपनी उसी इच्छा-शक्ति के बल पर उसे पूर्ववत दबाये हुए है।

इसी सम्बन्ध में मुझे एक घटना और स्मरण हो आती है :—

जब हमारी शादी हुई थी, मैं आल इंडिया रेडियो, दिल्ली में काम करता था और तीस हज़ारी में भैरो के मन्दिर के समीप रहता था। इस मन्दिर के बराबर ही छोटी सी पहाड़ी है, जिस पर अजीत गढ़ का मीनार, अशोक स्तम्भ और पीर गायब का मज़ार है। पहाड़ी जंगली पेड़ों से सुशोभित है और इस पर एक पक्की सड़क है जो सीधी तीमारपुर तक जाती है और 'रिज्ज' (Ridge) के नाम से प्रसिद्ध है। इस सड़क पर प्रातः-सायं सैर का बड़ा आनन्द मिलता है। मुझे बचपन ही से सुबह-शाम सैर करने का शौक रहा है। दिल्ली में भी मैं प्रायः 'रिज्ज' पर सैर को जाया करता। यद्यपि हमारे इस विवाह में रोमान नाम की चीज़ अधिक न थी। (परिस्थिति हास्यास्पद और दुखद थी।) लेकिन मेरा ख्याल था, कौशल्या कविता पसन्द करती है, प्रकृति के उस अनुपम सौन्दर्य को, जो नित्य नया हो पूर्व-पश्चिम में खिल उठता है, अवश्य पसन्द करती होगी और रसिक साथी मिल जाने से सैर का आनन्द द्विगुन हो जायगा। इसीलिए विवाह के पहले दिनों में नियमित रूप से मैं प्रातः उसे उठा कर 'रिज्ज' पर सैर को ले जाता रहा।

लेकिन जब मैं अपने जाने उसे स्वर्ग-विहान की सुन्दरता दिखाने का स्तुत्य प्रयास किया करता था, वह मन-ही-मन (ऐसा बाद में उस की एक सहेल से मालूम हुआ) मुझे सनकी समझ अपने भाग्य को कोसा करती थी।

हुआ यों कि अपने विवाह के कुछ महीने बाद मैं लाहौर गया। तभी कौशल्या की एक सहेली ने उपालम्भ के स्वर में मुझ से कहा, "आप हमारी बहन को सोने क्यों नहीं देते ?"

मैं चौंका और अपनी आकृति को प्रश्न-चिन्ह-सा बना कर उनकी

ओर देखने लगा।

तब उन्हों ने बताया कि कौशल्या तो आठ बजे तक सोने की आदी है और साढ़े पाँच, छः बजे उसे जगाना, उसके साथ बड़ा भारी अन्याय करना है।

"लेकिन 'रिज्ज' की सुबहें तो बड़ी सुहावनी होती हैं"—मैं कहना चाहता था। फिर यह सोच कर कि यह ब्योरा वृथा है, मैंने कान को हाथ लगाया कि अब जो खता हो गई सो हो गई, फिर ऐसी ख़ता हो तो गर्दन मार दीजिएगा।

कौशल्या की प्रिय आदर्श दिन-चर्य्या यह है कि प्रातः सात-साढ़े सात बजे वह उठे तो नौकर 'बेड-टी' (सुबह पलंग पर ही दी जाने वाली चाय) ले आये (अथवा चाय की ट्रे मेज़ पर रखते हुए उसे जगा दे) वह एक-आध कप पी कर कसलमंदी उतार ले तो आठ-साढ़े आठ बजे बिस्तर से उठ कर नित्य-कर्म से निवृत्त हो। दस-साढ़े दस बजे नाश्ता करे और एक-डेढ़ बजे लंच खाय। लंच खाने के पश्चात् घंटा डेढ़ घंटा आराम करे। तीन-साढ़े तीन बजे चाय पिये। छः-साढ़े छः बजे फिर (यदि सम्भव हो तो) चाय अथवा काफ़ी का एक कप पिये। नौ-साढ़े नौ बजे डिनर खाये और डिनर के बाद काफ़ी का एक

कप पी कर गपबाज़ी अथवा ताश की एक आध बाज़ी के पश्चात् बिस्तर पर जा लेटे और किसी समाचार-पत्र अथवा पुस्तक का उस समय तक अवलोकन करे कि (बारह साढ़े बारह बजे) उसे नींद आ जाय। टेबल लैम्प यदि जलता रह जाय (उसका बुझाना यदि बिजली के बिल के कारण आवश्यक हो) तो नौकर अथवा पति उठ कर बुझा दे।

लेकिन कौशल्या के आदर्श जीवन में बिजली का बिल कभी इतना महत्व नहीं प्राप्त कर सकता कि उसका रात भर जलना अखर सके या इतनी बार चाय अथवा काफ़ी पीने की सुविधा न हो।

प्रकट है कि इस आदर्श दिन-चर्य्या वाले को प्रातः की नींद बड़ी प्रिय होगी और कौशल्या को यह दिन-चर्य्या तभी प्राप्त हो सकती थी यदि वह किसी बड़े धनाढ्य व्यापारी से विवाह करती, लेकिन अपनी भावुकता में विवाह उस ने मुझ जैसे फक्कड़ लेखक से कर लिया जिस के लिए लिखना महज़ शग़ल (hobby) न होकर व्यवसाय भी था, ध्येय भी, और सब से बड़ा आनन्द भी। जो ज़रूरी आवश्यकताएँ जुटाने के लिए छोटी-मोटी नौकरी करता था और शेष समय साहित्य-लेखन ! और दोनों को मिला कर भी इतना न जुटा पाता था कि युद्ध-काल की उस महँगाई में जीवन की आवश्यकताओं से अधिक कोई सुख अथवा विलास की सामग्री जुटा सके।

कौशल्या के लिए अपने जीवन-स्तर को (जो मेरे स्तर से कहीं ऊँचा था) तत्काल नीचे लाना कठिन था। सो उसे अपनी इच्छा के अनुसार घर बनाने के लिए नौकरी करनी पड़ी। उस ने मिलिट्री में नौकरी की। दफ़्तर उस का सेक्रिटेरियेट से भी परे, हमारे घर से पूरे साढ़े पाँच मील के अन्तर पर था। नौ बजे उसे दफ़्तर में हाज़िर होना पड़ता और बस जो उसे लेने आती, वह आठ बजे बूलवर्ड रोड पर आ जाती। सर्दियों के दिनों में कौशल्या मुँह-अँधेरे उठती। नित्य-कर्म से निवृत्त हो, यदि

नौकर न हो (और उन दिनों नौकरों की बड़ी दिक्कत थी) तो स्वयं नाश्ता तैयार कर, लंच साथ बाँध, वर्दी पहन, ठीक पौने आठ बजे बस की प्रतीक्षा में बूलवर्ड रोड पर जा खड़ी होती। अपनी उसी प्रबल इच्छा-शक्ति से काम लेकर वह डेढ़ वर्ष तक अपनी प्यारी नींद को तज, प्रातः उठती रही और उस डिसिपलिन का पालन करती रही। उन्हीं दिनों वह देहरादून भी गई और बारह लड़कियों में, जिनमें ग्यारह अँग्रेज़ थीं, अकेली डाइरेक्ट कमीशन (Direct Commission) लेकर आई। किन्तु १९४५ में मुझे फ़िल्म में नौकरी मिल गई, और मैंने उस से कहा कि वह जूनियर कमाँडर बन कर बाहर हुकूमत जमाने के बदले कुछ देर आराम करे और हमीं ग़रीबों पर हुकूमत जमा ले! दस बारह सौ मैं कमाने लगा था। उस के नौकरी करने की आवश्यकता न थी।

इसी इच्छा-शक्ति से काम लेकर कौशल्या ने थोड़े ही दिनों में उर्दू सीखी, उर्दू-हिन्दी में टाइप करना सीखा और कहानी लिखने का अभ्यास किया। उस की इच्छा-शक्ति बहुमुखी है और एक ही समय में, एक ऐसी शिद्दत से, वह उसे अपनी भिन्न सरगर्मियों में लगा रखती है।

कौशल्या ने वर्त्तमान जीवन से समझौता कर लिया है। लेकिन उस का रहन-सहन, आचार-व्यवहार तकल्लुफ़ात सभी अभिजात-वर्ग के हैं। यद्यपि उस के माता-पिता उसे बचपन ही में अनाथ बना गये लेकिन उस का वातावरण वही रहा। उस के नाना गुजरात के प्रसिद्ध बैरिस्टर थे। सराय जितना बड़ा उन का मकान था। बीस मेहमान भी आ जायँ तो घर से बिस्तर निकल सकते थे। नाना के बाद कौशल्या मामा के पास रही। मामा भी अमेरिका के पढ़े थे और साहबी ठाठ से रहते थे। मौसा भी विलायत हो आये थे। बुआ और बुआ के लड़के लखपति

थे। कौशल्या की अपने जीवन-सम्बन्धी कल्पना इसी वातावरण के अनुकूल थी। बी० टी० की डिग्री लेने के पश्चात जब वह रेनाला में हैडमिस्ट्रेस हुई तो उस के पास घर के नाम पर किराये के दो अढ़ाई कमरे थे और सामान कुछ भी न था। लेकिन वह कुछ भी हतोत्साह न हुई। बड़ी निष्ठा से वह अपना घर बनाने में जुट गई। वह अवश्य ही अपनी कल्पना के अनुसार अपना घर बना लेती, लेकिन डेढ़ वर्ष की नौकरी के बाद ही उस ने मुझ से शादी कर ली।

जब वह दिल्ली सामान लेकर आई तो दूसरी चीज़ों के अतिरिक्त दुसूती, लट्ठे और सिल्क के छोटे-बड़े सुन्दर कढ़े हुए मेज़पोशों और मेंटल-पीस-कवरों से भी एक ट्रंक भरा हुआ था। देखकर मैं प्रसन्न भी हुआ और उदास भी, और मुझे उर्दू के प्रसिद्ध कथाकार मित्र राजेन्द्र सिंह बेदी से सुना हुआ एक लतीफ़ा याद हो आया—

जुलाहों के एक गाँव में एक बार एक जुलाही ने कपड़े धो कर रस्सी पर सूखने डाल रक्खे थे। तभी बड़े ज़ोरों से आँधी आ गई और एक शलवार में हवा ऐसे भर गई कि वह पूरो की पूरी फूल गई। देख कर जुलाही डर गई कि जाने यह क्या बला है। उस ने अपने पति से कहा। पति ने पड़ोसी से। पड़ोसी ने दूसरे पड़ोसी से। बात की बात में सारा गाँव डरा, सहमा वहाँ एकत्र हो गया। कोई इसे भूत की कारिस्तानी बताता कोई प्रेत की। आखिर किसी ने सुझाया कि शेखचिल्ली साहब से क्यों न पूछा जाय। आँधी का ज़ोर बराबर बढ़ रहा था। शलवार उसी तरह फूली हुई थी। शेखचिल्ली साहब के पास आदमी भेजा गया। वे महाशय अकड़ गये। कभी व्यस्तता का बहाना बनाते, कभी तबीयत की ख़राबी का। आख़िर बोले कि सवारी के लिए घोड़ी लाओ तो चलेंगे। विवश हो जुलाहे कहीं से घोड़ी लाये। तूफ़ान था कि बढ़ता ही जाता था और शलवार फूल-फूलकर फटने को हो रही

थी। शेखचिल्ली जाकर कुछ क्षण उस फूली शलवार को मुटुर-मुटुर तकते रहे, तब पहले उन के ओठों पर प्रसन्नता की रेखाएँ फैल गयीं, फिर सहसा वे उदास हो गये।

हाथ जोड़ कर जुलाहों ने पूछा, "महाराज आप प्रसन्न क्यों हुए और प्रसन्न हुए थे तो उदास होने का क्या कारण है?"

"मैं प्रसन्न तो यह सोच कर हुआ," शेखचिल्ली गर्व-स्फीत स्वर में बोले, "कि यदि मैं न होता तो आप ऐसे विकट-प्रश्न पूछने किस के पास जाते?"

"और उदास?"

"उदास इसलिए कि मैं स्वयं नहीं जानता यह क्या बला है।"

उन ढेर के ढेर मेज़पोशों को देखकर मेरी प्रसन्नता और उदासी भी उन्हीं शेखचिल्ली जैसी थी। मैं खुश हुआ, यह सोच कर, कि इतने ढेर के ढेर सुन्दर मेज़पोश अब मेरे हैं (किसी ज़माने में जब जीवन का ध्येय न बना था, इन चीज़ों का मुझे बड़ा शौक़ था) और उदास हुआ यह सोच कर, कि ये सब मेरे किस काम आयँगे? क्योंकि मेज़ तो दूर रही, एक तिपाई भी मेरे पास न थी, जिसकी शोभा वे बढ़ा सकें।

लेकिन कौशल्या ने साहस न छोड़ा। एक दूसरे के नीचे चली जाने वाली नन्हीं-नन्हीं सी चार मेज़ों का सेट वह साथ लाई थी। मेज़पोशों को वह उन्हीं पर बिछाती रही—कई इतने बड़े थे कि दुहरे करके बिछाने में भी बड़े लगते थे और कई अभी तक पूर्ववत ट्रंक में बन्द हैं। यही हाल मेंटल-पीस-कवरों (अंगीठी पोशों) का हुआ। पिछले सात वर्ष से वे ट्रंक में बन्द पड़े इस बात की प्रतीक्षा कर रहे हैं कि कब इतना बड़ा घर मिले जिस में अंगीठी वाला ड्राइंग-रूम भी हो तो उन का कुछ उपयोग हो सके।

सफ़ाई के प्रति कौशल्या की निष्ठा भी सुसंस्कृत अभिजात-वर्ग की है। सफ़ाई के प्रति उस का प्रेम (मुझ जैसे लोगों की दृष्टि में) सनक की हद तक पहुँचा हुआ है। उसके ख्याल के अनुसार घर में जितने व्यक्ति हैं, उन के न केवल नहाने के तौलिये अलग होने चाहिएँ, वरन् एक आदमी के नहाने, हाथ-मुँह पोंछने और (यदि आदमी पुरुष है तो) हजामत आदि के तौलिये तक अलग-अलग होने चाहिएँ। पूरी सफ़ाई रखने के लिए हर व्यक्ति के हर काम के लिए कम-से-कम तौलियों का एक जोड़ा अवश्य होना चाहिए। इस प्रकार यदि घर में चार छः व्यक्ति हैं तो एक ट्रंक तौलियों से भरा भी होना ज़रूरी है। चादरों और पलंग पोशों और दूसरे ऐसे सामान की बात दूर रही। यह बात कौशल्या की समझ में नहीं आती कि देश की वर्त्तमान स्थिति में करोड़ों आदमियों के लिए ऐसी सफ़ाई रखना, न केवल आर्थिक रूप से असम्भव है, बल्कि उन के पास इतना समय भी नहीं।

एक ज़रूरत दूसरी ज़रूरत को जन्म देती है, दूसरी तीसरी को और कुछ काल बाद आदमी अपने आप को इन्हीं ज़रूरतों का दास बना लेता है। यदि उस ने कोई ऐसा ध्येय बना रक्खा है जो उसे इतना धन और समय नहीं देता तो उसे अपनी इन ज़रूरतों के लिए समझौता करना पड़ता है। और कुछ समय पश्चात् वह पाता है कि वह ध्येय से दूर हट गया है और वह महज़ चन्द आवश्यक ज़रूरतें पूरी करने के लिए कोल्हू का बैल बना हुआ है।

मैं एक ऐसे वर्ग में पैदा हुआ और ऐसे वातावरण में पला हूँ, जहाँ भाई-भाई और मित्र-मित्र नहा कर एक ही तौलिये से शरीर पोंछना न केवल बुरा ख्याल न करते थे, बल्कि उन्हें यह मालूम ही न था कि ऐसा करना बुरा है। हम छः भाई थे और प्रत्येक के लिए छः अलग-अलग रुएँदार अथवा साधारण तौलियों की तो बात दूर रही, छहों के लिए छः

खादी के टुकड़े भी प्राप्त न थे। और यद्यपि ब्राह्मण होने के नाते हम पवित्रता और स्वच्छता के बड़े क़ायल थे, पर मुझे यह मानने में भी तनिक झिझक नहीं कि हमारा सफ़ाई का स्तर कौशल्या के सफ़ाई के स्तर से कहीं नीचा था। कौशल्या ने आकर जब अपनी कल्पना के अनुसार घर को साफ़-सुथरा बनाया, आठों पहर बूट या सलीपर या खड़ाऊँ पहनने की क़ैद लगाई और दूध से धुले बिस्तर और जाजम बिछा दिये तो मैं बड़ा सिटपिटाया। जी होता कि इतने साफ़-सुथरे घर में जाकर उसे गन्दा न करें। बस बरामदे में बैठ कर उस उजलेपन का दर्शन करते रहें।

हम मित्रों का (जिनमें प्रसिद्ध कहानी लेखक कृष्ण चन्द्र भी हैं) क़ायदा था कि सर्दियों के दिनों में बिस्तर पर बैठकर एक ही लिहाफ़ घुटनों पर ले लेते और मज़े से घंटों बैठे गप्पे हाँका करते। विवाह के आरम्भिक दिनों में, जब एक दिन मित्र सुबह आ गये और मैंने पूर्ववत उन्हें बिस्तर में बुला लिया और हम दोपहर तक गप्पें हाँकते रहे तो कौशल्या उनकी उपस्थिति में तो चुप रही, परन्तु जब वे चले गये तो उसने अभी एक दिन पहले बदली हुई दूध सी श्वेत चादर उठा कर फ़र्श पर फेंक दी और लिहाफ़ का गिलाफ़ उतार डाला।

मैं हैरान कि हे भगवान्! क्या ख़ता हो गई जो धुली चादरें फिर धोने को डाल दीं। आख़िर जब झिझकते हुए पूछा तो मालूम हुआ कि पलंग सोने के लिए होते हैं और कुर्सियाँ बैठने के लिए और यह कहते हुए कौशल्या ने दो कुर्सियाँ लाकर सोने के कमरे में रख दीं, कि यदि आप बिस्तर से उठ कर बाहर न जाना चाहें तो मित्रों को कुर्सियों पर बैठायें।

मित्र बिस्तर पर बैठने के आदी थे। बिना पूछे भी आ बैठते थे। लाचार सोने के कमरे को ड्राइंग-रूम बनाने के बदले किसी मित्र के

आवाज़ देते ही भाग कर बाहर जाने का अभ्यास डालना पड़ा और धीरे-धीरे मित्र भी समझ गये कि कौशल्या के राज्य में उन्हें भी मेरे साथ सभ्यता के दो एक पाठ सीखने की आवश्यकता है।

पिछले सात वर्ष में मैंने कौशल्या का और कौशल्या ने मेरा दृष्टिकोण समझने का प्रयत्न किया है। परिणाम यह है कि हमारा घर आधा तीतर आधा बटेर का सा हो गया है। खाने के लिए डाइनिंग टेबल नहीं (खरीदने की बात हो रही है) जिस पर प्लेटें आदि चुनी जा सकें पर वह थाली कटोरी भी नहीं। डाइनिंग टेबल की जगह फर्श पर दस्तरखान बिछ जाता है, थाली कटोरी का स्थान प्लेट और कटोरी ने ले लिया है। मित्र सोने के पलंग पर नहीं बैठते पर फ़र्श पर एक गदेला बिछा रहता है, जिस पर हम बैठ सकते हैं, लेट सकते हैं (चाहें तो कलाबाज़ी भी लगा सकते हैं) और घुटनों पर कम्बल लेकर घंटों गप्पें भी लड़ा सकते हैं। यही हाल दूसरी विषमताओं का भी है।

कौशल्या सफ़ाई और शिष्टाचार के अपने उसूलों की बड़ी पाबन्द हैं, पर जिस से वह स्नेह अथवा जिस का वह आदर करती है, उसके मामले में सब उसूल तज देती है। इस बात को स्वीकार न करना, उस के साथ अन्याय होगा। वह छल-कपट अथवा बनावट से ऐसा करती हो, यह बात नहीं। जिस सरलता से वह साधारण परिचितों में ये बातें सहन नहीं कर सकती, उसी सरलता से घनिष्ट-मित्रों की सब त्रुटियाँ माफ़ कर देती है।

कौशल्या की इस सरलता में भी दिलचस्पी का पहलू है। अपनी भावनाओं को छिपाने का गुर उसे नहीं आता। एक आदमी ने कोई

अच्छी बात कही, वह उस की प्रशंसा के पुल बाँध देगी। दूसरे दिन उस से किसी प्रकार की अशिष्टता हो गई अथवा उस की कोई बात कौशल्या को पसन्द न आई, बस उस के विरुद्ध हो जायगी। जब भी हम कोई नया नौकर रखते हैं, मुझे सदैव इस स्थिति से दो चार होना पड़ता है। साधारणतः नये नौकर के आने के तीसरे चौथे दिन वह मुझ से कहती है, "देखिए यह नौकर बड़ा अच्छा है। आज मैं थकी हुई थी, कपड़े झटकने लगी तो अपने आप बोला—लाइए बीबी जी, मैं झटक देता हूँ।" या "देखिए कितना शिष्ट है, किस अदब से बात करता है" या "सुबह ठीक समय पर उठ कर चाय बना देता है। बक-बक झक-झक नहीं करनी पड़ती" आदि आदि.... मैं उत्तर में कभी कुछ नहीं कहता। क्योंकि अनुभव ने मुझे बता दिया है कि वह दूसरे ही दिन उस की बुराई करने लगेगी। यह प्रशंसा और निन्दा का सिलसिला सदा चलता रहता है। नौकर चार दिन अच्छा और चार दिन बुरा बनता रहता है। (यही हाल पति का भी है, यद्यपि उस की निन्दा इतनी मुखर नहीं होती) कभी-कभी मैं कौशल्या की इस सरलता से चिढ़ जाता हूँ। पर कुल मिला कर मुझे यह प्रिय है। उन लोगों से जो दिल में विद्वेष से भरे रहने पर भी ऊपर से मुस्कराते रहते हैं, मन में अतीव उपेक्षा रखने पर भी ऊपर से प्रशंसा करते रहते हैं, मेरी रूह काँप जाती है। यदि साथी भी ऐसा ही हो तो फिर...... बहरहाल उस जीवन की तो मैं कल्पना ही नहीं कर सकता।

५. खुसरो बाग रोड
इलाहाबाद

उपेन्द्र नाथ अश्क

दो धारा

उपेन्द्र नाथ अश्क

बच्चे

वर्षा उस समय ज़ोर से होने लगी थी और नन्हा तुलसी राव अपनी माँ की साड़ी का पल्लू पकड़े उस के साथ जाने का हठ कर रहा था, जबकि राशन अफ़सर श्री बालकृष्ण विठल राव कोलार्कर अपने बगले में दाखि़ल हुए।

"नको, नको, तिकड़े बसा, तिकड़े!"† श्रीमती कोलार्कर ने अपना पल्लू छुड़ाते हुए कहा।

परन्तु बच्चा निरन्तर "हम ममी साथ जायँगा", "हम किचन में जायँगा!" चिल्लाता रहा।

श्रीमती कोलार्कर ने बच्चे का ध्यान बटाने के विचार से कहा, "देखो, तुम्हारे पापा जी आये हैं, गुड ईवनिंग बुलाओ।"

बच्चे ने ममी का पल्लू पकड़े-पकड़े वहीं से गुड ईवनिंग बुलाई।

किन्तु पापा जी ने इस अभिवादन का कोई उत्तर न दिया।

---

†नहीं नहीं वहाँ बैठो, वहाँ!

"पापा जो नहीं बोलता, पापा जी एकदम डर्टी है," बच्चे ने आया से सीखी हुई हिन्दुस्तानी में कहा।

"चच......चच......ऐसा भी बोलता है, इतना गुड ब्वाय होकर, क्षमा माँगो पापा जी से!"

बच्चे ने वहीं खड़े-खड़े हाथ जोड़ कर क्षमा माँगी। पर उसके पापा जी ने उसकी क्षमा-याचना का कोई उत्तर नहीं दिया, हाथ का सामान मेज़ पर रख, बरसाती उतारी और मौन रूप से उसे खूँटी पर टाँगने लगे

माँ ने समझा, बच्चे का ध्यान बट गया है। बोली, "वेरी गुड ब्वाय! लो बैठो, मैं अभी आती हूँ चाय लेकर!"

लेकिन बच्चे ने फिर ममी का पल्लू पकड़ लिया।

अपने पति की ओर देख कर श्रीमती कोलार्कर ने कहा, "तनिक इसे इधर रखो तो मैं चाय ले आऊँ। बाहर पानी गिरने लगा है।"

श्री० कोलार्कर ने उत्तर में बरसाती टाँग कर खूंटी से छाता उतारा, उसे चुपचाप पत्नी के हाथ में दिया और जाकर निर्जीव-से बिस्तर पर लेट गये।

श्रीमती कोलार्कर का समस्त क्रोध अपने बच्चे पर निकला, "एक दम गन्दा बाबा है, कहना नहीं मानता, हम दूसरा बेबी लायँगा!" और छाता खोल, बच्चे को कूल्हे से लगाये, वे बकती-झकती रसोई घर की ओर चली गईं।

जब से श्री० कोलार्कर पंचगनी आये थे, लगभग रोज़ ऐसा होता था। रसोई घर बँगले से तनिक दूरी पर था और नन्हा तुलसी राव कभी अपनी ममी की साड़ी का पल्लू और कभी आया की स्कर्ट का दामन

थामे रसोई घर से बँगले और बँगले से रसोई घर के बीस चक्कर लगाता, कई बार 'गुड' और कई बार 'डर्टी' बनता।

बम्बई में श्री कोलार्कर का फ़्लैट बालकेश्वर रोड पर सीतल बाग के बराबर था। बिलडिंग के दूसरे म्हाले* पर वे रहते थे और नन्हा तुलसी राव अपनी ममी अथवा आया को तंग करने के बदले कभी ऊपर की मंज़िल और कभी नीचे की मंज़िल में, इस या उस 'आँटी' ही को परेशान किया करता और उसकी माँ तथा आया उसे 'गुड ब्वाय' 'वेरी-वेरी गुड ब्वाय' समझा करतीं। वह न केवल अपनी माँ का प्यारा था, बल्कि आया भी उसे खूब चाहती थी। उसकी सिखाई हुई मराठी मिली हिन्दुस्तानी में वह ऐसी प्यारी-प्यारी बातें करता कि दोनों उसे चूम-चूम लेतीं। उसके पापा जब प्रातः उठते (रात को श्री कोलार्कर देर से घर आते, इसलिए पिता-पुत्र में कम ही भेंट होती) तो वह उन्हें अपने कमरे ही से 'गुड मार्निंग' बुलाता। फिर अपनी ममी की गोद में चढ़े-चढ़े जाकर उन्हें किस्सी (Kissy) देता और गुड ब्वाय की उपाधि लेकर ममी के गले में बाहें डाले वापस आ जाता। अपने फ़्लैट में तो वह हाथ-मुँह धोने, कपड़े बदलने, नाश्ता करने, खाना खाने या सोने के समय ही रहता, उसका शेष समय तो पड़ोसिन आँटियों और उनके बच्चों से खेलने या आया के साथ चौपाटी की सैर करने में व्यतीत होता।

किन्तु पंचगनी में न पड़ोसिन आँटियाँ थीं, न उनके बच्चे थे, न चौपाटी की सैर थी और न आया ही उसका मन बहलाती थी। श्री कोलार्कर ने पंचगनी में जो बँगला किराये पर लिया था, या जितने रुपये वे वार्षिक किराये में ख़र्च करना चाहते थे, उन पर, सीज़न का ज़ोर होने के कारण जो बँगला उन्हें मिला था, वह निपट एकांत स्थान में बना

---

*म्हाले=मंज़िल

हुआ था। दूर-दूर तक बच्चा तो क्या कोई बूढ़ा भी दिखाई न देता था। इसके अतिरिक्त आया अब उसका काम देखने के बदले रसोई का काम देखने लगी थी और बच्चा नितांत अकेला पड़ गया था।

सहसा जब डाक्टरों ने श्री० कोलार्कर के दायें फेफड़े में कुछ इनफ़िलट्रेशन अर्थात् यक्ष्मा के कीटाणुओं के हल्के-से आक्रमण की आशंका प्रकट की और श्री कोलार्कर ने अपने और अपने ससुर के समस्त बल-प्रभाव का प्रयोग करके, पंचगनी में, जो बम्बई प्रेज़िडेन्सी में सब से शुष्क स्वास्थ्य-कर स्थान समझा जाता है, अपनी तब्दीली करा ली, तो उनके रसोइये ने साथ चलने से इन्कार कर दिया। तब अचानक उनकी आया ने प्रस्ताव किया कि यदि उसकी 'पगार'* बढ़ा दी जाय और मेम साब उसकी कुछ सहायता करें, तो वह किचन का काम सम्हाल लेगी। श्री० कोलार्कर ने तुरन्त उसका प्रस्ताव स्वीकार कर लिया था। नन्हा अब अढ़ाई वर्ष का होने को आया था, उसका काम घट गया था और पति-पत्नी आया को छुट्टी देने की सोच रहे थे, किन्तु जब आया किचन का काम सम्हालने को तैयार हुई और श्रीमती कोलार्कर ने बच्चे को नहलाना-धुलाना अपने ज़िम्मे ले लिया तो श्री कोलार्कर ने उसका वेतन पाँच रुपये बढ़ा दिया और उसे अपने साथ पंचगनी ले आये।

इस प्रबन्ध से सभी प्रसन्न थे। किचन की दासता से बच्चे की दासता श्रीमती कोलार्कर को अपेक्षाकृत पसन्द थी। श्री० कोलार्कर को अच्छे-से-अच्छा खाना मिल जाता था—आशा के विपरीत आया रसोइये से भी अच्छी चीज़ें पका लेती थी, कई प्रकार का मांस, मछली, कढ़ी और केक और फिर भाँति-भाँति के हलवे बनाने में उसे अपूर्व

*पगार=वेतन

दक्षता प्राप्त थी। पतले-पतले पराठे बनाने में (जो मेम और साहब दोनों को बहुत भाते थे) उसे अवश्य कठिनाई होती, किन्तु उस काम में मेम साहब उसका हाथ बँटा देतीं—रही आया तो इस महँगाई के ज़माने में उसे मन-चाहा खाना मिल जाता, बच्चे के कपड़ों की धुलाई के बदले स्वादिष्ट सालन की सुगन्धि मिलती और आया से बढ़ कर 'मिस्तरी' (रसोइया) होने पर वह फूली न समाती।

किन्तु नन्हा तुलसी राव इस प्रबन्ध से सख्त परेशान था। जब वह खेलना चाहता, तो ममी और आया दोनों ही उसे किसी-न-किसी काम में व्यस्त मिलतीं। आया चाहती कि अब, जब वह आया से मिस्तरी हो गई है, उसे बच्चे की 'रीं...रीं' से मुक्त किया जाय। जब बच्चा अपने स्वभावानुसार उसकी स्कर्ट का छोर पकड़ता, तो वह मिनमिनाती। श्रीमती कोलार्कर चाहतीं कि वे नहला-धुला कर उसे कपड़े पहना दें तो वह अकेला चटाई पर बैठा खिलौनों से खेलता रहे और वे कोई दूसरा काम करें। लेकिन बचा खिलौने छोड़ कर उनकी साड़ी का आंचल पकड़े उनके पीछे-पीछे घूमता, परेशान करता, पिटता किन्तु पिटने और रोने पर, जैसा कि उसे सिखाया गया था "अबी ऐसा नहीं करेंगा !" कहता हुआ क्षमा माँग लेता और 'संधि' कर लेता।

वह अत्यन्त सुन्दर, गुलगोथना, गुबला-गुबला बच्चा था। जब वह अपराध करने और पिटने पर क्षमा माँगता और गले में बाहें डाल कर संधि कर लेता तो श्रीमती कोलार्कर सब कुछ भूल कर, उसे छाती से लगा लेतीं और 'गुड ब्वाय' की उपाधि प्रदान करती हुई चूम-चूम कर उस के गाल, लाल कर देतीं।

किन्तु इस के बावजूद वे उसे दिन में कई बार पीटतीं और कई बार क्षमा करतीं। कई बार 'गुड ब्वाय' और कई बार 'डर्टी ब्वाय' की उपाधि से विभूषित करतीं।

बाहर वर्षा पूर्ववत् हो रही थी, किन्तु हवा तेज़ चलने लगी थी। सिलवर-ओक के गगन-चुम्बी, किन्तु देवदार की अपेक्षा पतले तनों वाले, वृक्षों के पत्ते उसके वेग से दोहरे हुए जा रहे थे और उनके पृष्ठ-भाग का हल्का हरा रंग शेष वृक्षों के मूँगी के से गहरे सब्ज रंग की पृष्ठ-भूमि में विचित्र-सा लग रहा था। बादलों के झुंड-के-झुंड, अनवरत विजय, आक्रमण और मदिरा के तिहरे मद में मस्त सैनिकों की तरह, उड़े जा रहे थे। वर्षा के थपेड़े खिड़कियों के शीशों को तोड़े डालते थे और टीन की छत पर फैले हुए बाँस के वृक्षों की शाखाएँ अपने बड़े-बड़े काँटे निरन्तर छत में गाड़ती हुई चिंघाड़ रही थीं। श्री० कोलार्कर खिड़की के पास चारपाई पर निष्प्राण-से पड़े थे। यद्यपि छः महीने में ही उन का वज़न बाईस पाऊंड अर्थात् पूरे ग्याहह सेर बढ़ गया था और उन के कल्ले, जो बम्बई के अत्यन्त व्यस्त और मर्यादा-रहित जीवन के कारण भीतर धँस गये थे और दिन-प्रति-दिन काले पड़ते जा रहे थे, अब भर आये थे और उस भयानक रोग की छाया भी, जो बम्बई में अचानक उन्हें लीलता हुआ दिखाई देता था, अब दूर होती जा रही थी, किन्तु इस पर भी लगता था, जैसे उनकी कोई बहुत प्यारी चीज़ बम्बई ही में रह गई है।

दफ़्तर का अधिक काम उन्होंने अपने एक सहकारी पर छोड़ रखा था। राजयक्ष्मा पर लिखी हुई एक पुस्तक में उन्होंने पढ़ा था कि रोग से मुक्त हो जाने पर भी रोगी को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि यदि सम्भव हो, तो वह चलने की अपेक्षा खड़े रह कर और खड़े रहने की अपेक्षा बैठकर काम करे और वे दफ़्तर में ज़्यादातर आराम कुर्सी पर लेटे काग़ज़ों पर हस्ताक्षर करते थे। लंच के समय भी वहीं खाना खाकर ऊँघ लेते। साहित्य और राजनीति में उन्हें कभी दिलचस्पी न थी और अब तो देश का वातावरण दूषित होने के कारण ख़बरें बड़ी परेशान

करने वाली होतीं और डाक्टरों के परामर्शानुसार हर तरह की परेशानी को अपने से दूर रखने के हेतु वे समाचार-पत्र को उठा कर भी न देखते थे।

दफ़्तर का समय किसी-न-किसी तरह काट कर जब वे घर आते, तो उन्हें ऐसा लगता जैसे समय एक बड़ा भारी पत्थर बन कर उनकी छाती पर आ बैठा है। श्रान्त-क्लान्त, ऊबे और चिढ़े से वे खिड़की के पास बिछे हुए पलंग पर निर्जीव-से लेट जाते। उनकी पत्नी घर अथवा किचन के काम में व्यस्त होतीं। उनका बच्चा 'हैलो पापा', 'गुड ईवनिंग पापा' से उनका स्वागत करता। श्री० कोलार्कर थके हुए स्वर में कभी उस के 'हैलो' और 'गुड ईवनिंग' का उत्तर देते और कभी मौन रहते, पर कभी उसे इतना प्रोत्साहन न देते कि वह उनकी गोद में आ चढ़े या अपनी तोतली बातों से उनका मन बहलाये।

श्री० कोलार्कर को कभी बच्चों से प्रेम न था और जिन वस्तुओं से उन्हें प्रेम था, उनका सामीप्य अब न केवल उन्हें प्राप्त न था. वरन् उनकी सख्त मनाही भी थी। वहीं पलंग पर निष्प्राण से लेटे उन्हें प्रायः रेडियो-क्लब की वे दिलचस्प लुभावनी शामें याद हो आतीं, जब हरी-हरी घास पर लगी किसी कुर्सी पर बैठे और समुद्र-तट का दर्शन करते हुए ऐसा लगता, मानो जहाज़ के डेक पर बैठे हों। क्लब के लॉन की ऊँचाई से, बायीं ओर समुद्र की आकुल लहरें; उनमें लंगर डाले, सन्यासियों से अटल जहाज़; दायीं ओर इंडिया गेट और ताज की बिल्डिंग; वहाँ तक जाती हुई बाँध के साथ बनी हुई सड़क — सब कुछ बड़ा भला लगता। आकुल ऊर्म्मियाँ बाँध के पत्थरों के साथ टकरातीं और झाग बिखेरती हुई लौट जातीं और कभी-कभी उन से कहीं अधिक व्यग्र कोई स्टीमर उन सन्यासियों की भाँति समाधिस्थ जहाज़ों में किसी एक तक जाता और

अपने पीछे सफेद झाग की एक लहर सी छोड़ जाता। श्री० कोलार्कर समुद्र की लहरों, जहाज़ों और दूर पृष्ठ-भूमि में एलीफ़ेण्टा की पहाड़ी को संध्या के धुँधलकों में उन सन्यासियों ही की भाँति अटल, अविचल खड़े देखते और तुष्टि की एक अपूर्व अनुभूति से ओत-प्रोत हो जाते। स्कॉच की तरल आग रस ले-लेकर गले से उतारते और सिगरेट के लम्बे-लम्बे कश लगाते। धीरे-धीरे उनके दूसरे मित्र भी आ जाते और फिर ह्विस्की के दौर की जगह ब्रिज का दौर चलता और गई रात तक ब्रिज और ह्विस्की की यह कॉक टेल चला करती। जब वे घर आते, तो उनका बच्चा सो चुका होता, पत्नी कोई मराठी उपन्यास हाथों में लिये ऊँघती हुई उनकी प्रतीक्षा कर रही होती और उनको सुलाते ही सो जाती।

ज्योंही डाक्टर ने इस रोग का निदान किया था, क्लब, सिगरेट, शराब और ब्रिज, सब की उन्हें सख्त मनाही हो गई थी। यद्यपि ये चीज़े श्री० कोलार्कर को अत्यन्त प्रिय थीं, किन्तु जीवन कदाचित, इनसे भी प्रिय था, इसीलिए इन सब को 'नमस्कार' कह उन्होंने पंचगनी में अपनी तब्दीली करा ली थी। कुछ महीने छुट्टी ले घर में पूरा आराम किया था और अब डेढ़-दो महीने से जो दफ़्तर जाने लगे थे तो भी काफ़ी आराम करते थे।

शराब और सिगरेट तो सदा के लिए छूट गये थे, किन्तु यदि वे चाहते, तो अब ब्रिज की एक-आध बाज़ी खेल सकते थे। उनका स्वास्थ्य पहले की अपेक्षा सुधर गया था, वज़न बढ़ गया था और सेडिमेंट नार्मल हो गया था अर्थात् उन के रक्त में रोग का प्रभाव खत्म हो गया था, लेकिन पंचगनी इतनी छोटी जगह थी और उनका पद ऐसा था कि वे मित्र बनाते हुए डरते थे। यदि कोई पुराना मित्र भी सामने पड़ जाता, तो वे सदा कन्नी कतरा जाते। बम्बई में वे वालकेश्वर

रोड पर रहते थे, सान्ताक्रूज़ में राशनिंग अफ़सर थे और कोलाबा में उनका क्लब था। उनके मित्रों में एक भी ऐसा न था, जो उनकी मैत्री का अनुचित लाभ उठा सकता। पंचगनी में उन्हें भय था कि उन्होंने कोई मित्र बनाया कि उसने चार व्यक्तियों के राशन कार्ड नियम के विरुद्ध रखे या कोई दूसरी माँग की और वे सब से अलग-थलग बने रहते थे।

बाज़ार छोटा-सा-था और जो थोड़ी बहुत रौनक उस में थी, वह भी वर्षा के कारण समाप्त हो गई थी। और यों भी वर्षा में किसी प्रकार की सैर असम्भव थी। वर्षा तो बम्बई में भी होती, पर इसके बावजूद चिर-चंचल बम्बई का जीवन सदा क्रियाशील रहता। पंचगनी में तो लगता, जैसे जीवन एक दम थम गया है, जैसे दिनों, सप्ताहों, महीनों अनवरत गिरने वाली इस वर्षा ने उसे सर्वथा गति-हीन बना दिया है। श्री०कोलार्कर चेष्टा-हीन से पलंग पर लेटे रहते। पल घड़ियाँ बन कर बहे जाते और वे चुपचाप लेटे बाहर वाटिका में एक ही पंक्ति में लगे हुए सिलवर-ओक के तनों को तकते रहते, जिन के घने पत्ते कहीं छत से भी बहुत ऊपर थे। उन रुंड-मुंड तनों को तकते हुए रेडियो-क्लब की दिलचस्प, आमोद-भरी संध्याएँ उन्हें स्मरण हो आतीं और इन उदास शामों की घुटन और भी घनी होकर उन्हें गला घोंटती हुई-सी प्रतीत होती।

आया एक हाथ पर चाय की ट्रे और दूसरे में छाता थामे हुए जल्दी-जल्दी आई। बच्चा साथ आने का हठ करता था, इसलिए श्रीमती कोलार्कर ने चाय आया ही के हाथ भेज दी थी। आया बूढ़ी थी और कुरूप, किन्तु अविवाहित होने के कारण अभी तक शृंगार में उस का बड़ा अनुराग था। जूड़े में वह अब भी प्रति दिन फूल लगाती

थी, स्कर्ट पहनती थी और अजीब बंदरिया-सी लगती थी। श्री० कोलार्कर को उसका चाय लाना एक आँख न भाता था। वे चाहते थे कि उनकी पत्नी कम-से-कम चाय के समय तो उनके पास बैठे। और कुछ नहीं तो वे उसके साथ ही कुछ क्षण बातें करें। प्रारम्भ में श्रीमती कोलार्कर ने प्रयास भी किया था, किन्तु वे जब भी आईं, नन्हा तुलसी राव सदा उनके साथ आया। वह इतना चंचल और उद्दंड बालक था कि क्षण भर के लिए निश्चल न बैठता। वह उन्हें बात तक न करने देता। चाहता कि उस के पापा और ममी परस्पर बातें करने के बदले उससे बातें करें और उसकी बातें सुनें। श्री० कोलार्कर के लिए चाय पीना दूभर हो जाता। कुछ क्षण संयत रहने की चेष्टा करने के बाद सहसा वे चिल्ला उठते, "इस पाजी को मेरे सामने से ले जाओ!" और अब, जब उनकी पत्नी अपनी इच्छा के बावजूद स्वयं न आ पाती, श्री० कोलार्कर मन-ही-मन खीझते, किन्तु बच्चे की निरर्थक बातें सुनने की अपेक्षा अकेले ही चाय पीना श्रेयस्कर समझते।

यह अजीब बात थी कि श्री० कोलार्कर को अपनी पत्नी का यह महत्व बम्बई में कभी अनुभव नहीं हुआ। वे दफ़्तर से लोकल ट्रेन में सीधे 'चर्च गेट' और वहाँ से क्लब पहुँचते और जब लौटते तो खाना खाकर (और जब कभी वे खाना क्लब ही में खा लेते तो बिना खाये) सोने के अतिरिक्त उनके लिए और कुछ न रह जाता। कभी छुट्टी के दिन फ़ोर्ट या क्राफ़ोर्ड मारकेट में शॉपिंग करते समय या कभी किसी संध्या अपने किसी मित्र की पार्टी में वे अवश्य उसे साथ ले जाते, किन्तु उस समय भी उनकी पत्नी का अपना महत्व कुछ न होता—उसकी बहुमूल्य साड़ी, नये-से-नये फैशन के सैंडल, नरोत्तम दास भाऊ की दुकान से ख़रीदी हुई उसकी दीप्तिमयी अँगूठियाँ तथा कर्ण-फूल, उसके मुख का सौम्य-सौन्दर्य और उसकी ऊँची प्रज्ञा का पता देने वाली उसकी वह सूक्ष्म

मुस्कान—सब श्री० बालकृष्ण विठल राव कोलार्कर के महत्व को बढ़ाते। जहाँ तक साहचर्य का सम्बन्ध है, उन्हें तो यह भी ज्ञात न था कि उनकी यह संगिनी अपना समय कैसे बिताती है।

आया ने चाय का प्याला बनाकर साहब के समीप एक तिपाई पर रख दिया और एक प्लेट में उबला हुआ अंडा और नमक ले आई।

श्री० कोलार्कर पूर्ववत लेटे सिलवर-ओक के तनों को देखते रहे। उन्होंने एक बार भी आया की ओर नहीं देखा। वे आज बाज़ार से आते-आते ताश का एक पैकेट और ड्राफ़्ट का एक बोर्ड ले आये थे। जिस डाक्टर से वे इंजेक्शन आदि लेते थे, उसके ड्राइंग रूम में उन्होंने संध्या समय लोगों को प्रायः ड्राफ़्ट या ताश खेलते देखा था। उन के कुछ इंस्पेक्टर भी सदैव खेलने वालों में होते। श्री कोलार्कर का मन बहुत चाहता कि कुछ क्षण उनके साथ जा बैठें और ड्राफ़्ट के एक-दो बोर्ड या ताश की एक-दो बाज़ियाँ खेलें, किन्तु क्लर्कों और इंस्पेक्टरों से मिलना-जुलना वे उतना ही बुरा समझते थे, जितना जान-पहचान वालों से। हर बार वे अपनी इस अभिलाषा को मन ही में दबा लेते थे। आज जब वे दफ़्तर से आते-आते डाक्टर से इंजेक्शन लेने गये और सदा की भाँति वहाँ ड्राफ़्ट की सभा जमी हुई देखी, तो जाने क्यों वापसी पर आते-आते वे 'पंचगनी स्टोर्ज़' से ड्राफ़्ट का बोर्ड और ताश का एक पैकेट लेते आये। किन्तु उनकी पत्नी को तो उन से दो बात तक करने का अवकाश न था और वे दोनों चीज़ें उसी प्रकार काग़ज में बँधी मेज़ पर पड़ी थीं और श्री० कोलार्कर निर्जीव-से पलंग पर लेटे हुए सिलवर ओक के बेजान तनों को तक रहे थे।

"साहब, चाय ठंडा हो जायँगा।" आया कुछ क्षण साहब के उठने की प्रतीक्षा करके बोली।

"तुम जाओ, हम पीता है!" श्री० कोलार्कर ने उसी प्रकार लेटे-लेटे कहा, "और मेम साहब को टाइम हो, तो इधर भेजना।"

किन्तु मेम साहब को टाइम शीघ्र नहीं मिला। संध्या को श्रीमती कोलार्कर खाना रसोई-घर में पका कर बँगले में ले आती थीं, ताकि वर्षा और अँधेरे में रसोई-घर न जाना पड़े। पराठे पकाते और दूसरा समान लाते-ले जाते उन्हें देर लग गई। जब बच्चे को आया के सुपुर्द करके और यह आदेश देकर कि उसे शीघ्र खाना खिला दिया जाय, वे श्री० कोलार्कर के पास आईं, तो उनका मन बात तक करने को न हो रहा था। वे रेडियो-क्लब के जीवन की सुखद-मधुर कल्पनाओं में खोये हुए थे और नहीं चाहते थे कि कोई आकर उन्हें छिन्न-भिन्न कर दे। जब श्रीमती कोलार्कर उनके पास पलंग की पट्टी पर आ बैठीं और रसोई-घर में अपनी व्यस्तता और बच्चे के हठ का ज़िक्र करते हुए देर के लिए क्षमा माँगी और बुलाने का उद्देश्य पूछा, तो श्री० कोलार्कर ने जैसे किसी दूसरी दुनिया से बोलते हुए केवल इतना कहा :

"मैं आज बाज़ार से आते-आते ताश और ड्राफ़्ट लाया था। सोचा था, यदि कुछ समय हो, तो स्वीप की एक-दो बाज़ियाँ खेलें, किन्तु अब तो रात हो गई।"

"तो फिर क्या हुआ," श्रीमती कोलार्कर ने उनका दिल बढ़ाते हुए कहा, "बस, ज़रा जल्दी खाना खा लीजिए, फिर खेलते हैं।" और यह कह कर वे अपने पति के खाने का प्रबन्ध करने के लिए उठ कर चली गईं।

रात को खाने आदि से निबट कर श्रीमती कोलार्कर अपने पति

का विस्तर झाड़ कर बिछाती थीं और फिर बच्चे को सुलाती थीं। आया बूढ़ी थी और फिर कमरों की सफ़ाई करते, वर्तन मलते, बाज़ार से समान लाते, रसोई-घर से बँगले और बँगले से रसोई-घर के बीसियों चक्कर लगाते हुए थक जाती। इसलिए ज्योंही खाना आदि समाप्त होता, वह बड़े कमरे में चटाई बिछा कर उस पर अपना विस्तर लगा लेती और उस समय, जब मेम साब नन्हे को 'चिमनी कावड़े'* या रग्घू तोते की कहानी सुना कर, या अँग्रेज़ी बोलना सिखा कर सुलाने की चेष्टा करतीं, आया बड़े मज़े से सो जाती।

जब खाना आदि समाप्त हो गया और आया रोज़ की भाँति विस्तर बिछा कर लेट गई, तो श्रीमती कोलार्कर ने बच्चे को स्वयं सुलाने के बदले उसे आया के सुपुर्द किया, दबे स्वर में साहब की इच्छा का ज़िक्र किया और कहा कि इसे ज़रा सुलाओ और स्वयं पति की इच्छा का पालन करते हुए उनके सम्मुख जा बैठीं।

श्री० कोलार्कर को स्वीप खेले वर्षों बीत गये थे। विवाह के प्रथम दिनों में, अपनी नव-परिणीता संगिनी की प्रसन्नता के लिए उन्होंने महीना भर उसके साथ स्वीप खेली थी। किन्तु उन दिनों उनके लिए स्वीप खेलना अपनी पत्नी को प्यार करने का, बात-बात में उसे चूम लेने या गोद में भर लेने का बहाना-मात्र था और जब स्वीप में उनकी इस बढ़ती हुई दिलचस्पी के फल-स्वरूप विवाह के दो महीने बाद ही उनकी पत्नी बच्चे से होकर अपने मैके चली गई और श्री० कोलार्कर ने क्लब की शरण ली, तो आज अढ़ाई-तीन वर्ष से ब्रिज ही उनकी एक-मात्र संगिनी थी। ब्रिज के सामने स्वीप उन्हें ऐसी ही लगती, जैसे आधुनिकतम वस्त्रों में सजी-सँवरी किसी तन्वी के सामने प्रागैतिहासिक काल की कोई सुन्दरी। फिर भी जब उनकी पत्नी उनके

---

* चिमनी कावड़े = चिड़िया कौवे!

सम्मुख आ बैठी, तो अपने एकान्त की घुटन दूर करने के लिए श्री० कोलार्कर ने कुछ उत्साह से पत्ते बाँटे।

किन्तु तभी नन्हा तुलसी राव, जो आया से गोआ के चूहे की 'हूँ' 'हूँ' वाली कहानी सुन रहा था और उसके पापा और ममी समझ रहे थे कि सोने ही वाला है, "ममी, हम भी खेलेंगा, ताश पत्ते खेलेंगा" कहता और भागता हुआ आया और श्रीमती कोलार्कर की गोद में बैठ गया।

ममी ने उसे चूम कर बड़े प्यार से कहा, "जाओ बेटा, आया के पास सोओ!"

"सोता नहीं", बेटा बोला, "खेलता है!"

"आया तुम्हें कहानी सुनायेगी, बड़ी चाँगली*।"

"कहानी नहीं सुनता, खेलता है, ममी साथ खलता है।"

श्री कोलार्कर ने अपने बच्चे की ओर देखा, उनकी त्योरी चढ़ गई। उन्हें पहली बार अनुभव हुआ कि उनका यह बच्चा, जो प्रातः ही अपने कमरे से उन्हें 'गुड मार्निंग' बुलाता था और फिर माँ के कंधे से लगे-लगे उन्हें चुम्बन दे जाता था और जिसे वे बड़ा शिष्ट समझते थे, एक दम बदतमीज़ है।

उस समय उनकी पत्नी बच्चे को समझा रही थी, "तंग नहीं करते बेटा, पापाजी के पत्ते नहीं लेते, अपने खिलौनों से खेलते हैं।" और बेटा चिल्ला रहा था—"खिलौने गन्दे हैं, खिलौनों से खेलता नहीं, पत्ते खेलता है।" और मचल रहा था और हाथ-पाँव पटक रहा था।

'अत्यन्त उद्दंड लड़का है, माँ ने तनिक भी शिष्टता नहीं सिखाई'—श्री० कोलार्कर ने मन-ही-मन कहा और उनके जी में आई कि दड़ से दो थप्पड़ उस बदतमीज़ के गाल पर जड़ दें, किन्तु तभी

* बड़ी चाँगली = बड़ी अच्छी

उन्हें कुछ प्रेरणा-सी हुई और उन्होंने अपने और अपनी पत्नी के सामने पड़े हुए पत्तों को उठा कर बच्चे के हाथ में दे दिया और कहा, "जा, उधर आया के साथ खेल।"

"आया साथ नहीं खेलता, पापा जी साथ खेलता है।"

श्री० कोलार्कर की त्योरी फिर चढ़ गई, किन्तु उनकी पत्नी बच्चे को उठा कर आया के पास छोड़ आई और उसे धीरे से कहा—"आया, इसे ज़रा खेलाओ।" पुत्र को अतीव स्नेह से चूमा और बोली—"बड़ा अच्छा बेटा है, ममी को तंग नहीं करता। आया के साथ खेलता है।" और जब बेटे ने वही वाक्य दोहराया और बड़े आदेशपूर्ण स्वर में आया से कहा—"हमारे के साथ पत्ते खेलो" तो उसकी ममी उसके पापा के पास लौट गई।

श्री० कोलार्कर का उत्साह इतने ही में ठंडा पड़ चुका था, किन्तु फिर भी उन्होंने अपनी प्रेरणा के अनुसार, "चलो एक ड्राफ़्ट ही की गेम खेलते हैं!" कहते हुए ड्राफ़्ट की बिसात बिछाई और उस पर मोहरे लगाने लगे।

किन्तु उन की पत्नी ड्राफ़्ट के खेल से अनभिज्ञ थी। धीमे से उसने कहा, "मुझे तो ड्राफ़्ट आता नहीं!"

कोलार्कर झुँझला उठे, "तुम नें बी० ए०. कर लिया और तुम्हें ड्राफ़्ट खेलना नहीं आता!"

बड़े आदर के साथ पत्नी ने विनय की कि बी० ए० में उन्हें ड्राफ़्ट नहीं सिखाया गया।

श्री० कोलार्कर को बड़ा क्रोध आया, किन्तु खेलने की मानो उन्हें ज़िद हो गई थी। बोले, "आसान खेल है। ये मोहरे शतरंज के फ़ील

ही की तरह एक घर टेढ़ा चलते हैं, किन्तु जब अन्तिम घरों में पहुँच जाते हैं तो फिर आगे पीछे दोनों ओर जितने घर चाहें एक साथ फलांग सकते हैं।" और उन्होंने मोहरा चल कर दिखाया। फिर जैसे कुछ स्मरण हो आने से बोले, "एक बात का ध्यान रखना आवश्यक है, यदि प्रतिद्वन्द्वी का कोई मोहरा मरता हो तो उसे मारना आवश्यक है, न मारा जायगा तो जुरमाने के रूप में वही मोहरा देना पड़ेगा।"

और यह सब समझा कर उन्होंने चाल चली।

उनकी पत्नी ने जवाबी चाल चली, तो उन्होंने समझाया कि यह नहीं, यह चलो, तो अच्छा है। उसने वही चल दी।

किन्तु अभी खेल चन्द चालों से आगे न बढ़ा था, जिनसे उनकी पत्नी की 'मूढ़ता' उन पर पूर्णतया सिद्ध हो गई थी, उसके लगभग सारे मोहरे मर गये थे और श्री कोलार्कर का समस्त आनन्द किरकिरा हो गया था और उनकी इच्छा हो रही थी कि बिसात को उलट कर बिस्तर में जा लेटें, कि नन्हा तुलसी राव नयी ताश के अस्त-व्यस्त पत्तों को दोनों हाथों में सम्हालता और उन्हें फ़र्श पर गिराता भागा आया और ड्राफ़्ट के मोहरों की ओर संकेत करके चिल्लाने लगा, "दो चार लेंगा, ममी दो चार लेंगा।"

चार छः महीने पहले, जब वे बम्बई में थे, श्रीमती कोलार्कर ने एक दिन बच्चे को ड्राफ़्ट के मोहरों-जैसे गोल टुकड़े लाकर दिये थे, जिन पर एक से लेकर बीस तक अंक लिखे थे और बच्चा उन्हें 'दो चार' कहता था।

स्नेह से उसकी माँ ने कहा, "इनसे नहीं खेलता, बेटा, अपने पत्तों से खेलता है।"

किन्तु बच्चे ने चीख़ कर कहा कि वह दो चार लेगा।

"मेरा बेटा कोई डर्टी ब्वाय है...", उसकी माँ उसे समझाना चाहती थी, किन्तु शब्द अभी उस के ओठों पर ही थे कि दड़ से एक थप्पड़ उस के बेटे के मुँह पर पड़ा और वह उसकी गोद में आ गिरा।

क्षण भर के लिए श्री कोलार्कर को ध्यान आया कि वह तो बच्चा है, उसे इन बातों की क्या समझ है? किन्तु उसी क्षण उन्हें क्रोध आया कि उसकी माँ ने उसे यह सब सिखाया क्यों नहीं और जैसे दुगुने वेग से उन्होंने एक थप्पड़ उसके दूसरे गाल पर जड़ दिया। उनके मस्तिष्क की तनी हुई नसें और तन गई और जैसे इस अनवरत बरसती वर्षा, पंचगनी के गला घोंटने वाले एकांत, अपनी बीमारी, पत्नी की मूर्खता—सब का क्रोध उन्होंने निरन्तर कई मुक्कों के रूप में अपने पुत्र की पीठ पर निकाल दिया और झल्लाये हुए से जाकर बिस्तर में धँस गये।

बच्चे की घिग्घी बँध गई थी। सिसकियों के मध्य वह, "अब नहीं माँगता, दो-चार नहीं माँगता, अपने पत्तों से खेलता है;" कहे जा रहा था और उनकी पत्नी उसे कन्धे से लगाये बाहों में भींचे जा रही थी।

उसी क्षण श्री० कोलार्कर की दृष्टि अपनी पत्नी से चार हुई और उन्हें लगा, जैसे उसकी दो आँखें लपकती हुई दो तलवारें हैं। कुछ ऐसी निन्दा, घृणा, उपेक्षा और आक्रोष उन में लपलपा रहा था कि कोलार्कर उनका सामना न कर सके। अनायास उनकी आँखें झुक गईं।

किन्तु दूसरे ही क्षण उनकी पत्नी ने अपनी उस तीव्र-दृष्टि को अपने बच्चे की ओर मोड़ दिया और डाँट कर बोली:

"फिर तो पापा जी को तंग नहीं करेगा?"

"नहीं करेंगा!" सिसकियों के मध्य बच्चे ने उत्तर दिया।

और प्रबल इच्छा-शक्ति से, घने मेघों में झलक उठने वाले सूक्ष्म-से प्रकाश सी मुस्कान अपने ओठों पर लाकर उनकी पत्नी ने बच्चे को छाती से भींचते हुए कहा:—

"मेरा बेटा बड़ा गुड-ब्वाय है, पापा जी से क्षमा माँग लेता है।"

और नन्हें ने रोते हुए कहा, "पापा जी, क्षमा करो जी !"

"सन्धि करो पापा जी से !"

और वह नन्हें को कन्धे से लगाये हुए अपने पति के पास ले गईं और माँ की गोद से उतर कर रोते-रोते बच्चा श्री कोलार्कर के गले से चिपट गया।

सहसा श्री० कोलार्कर के कंठ में कुछ गोला सा उभर आया। उन्होंने अनायास बच्चे को हृदय से भींच लिया। उनके नेत्र सजल हो गये, किन्तु उनकी पत्नी उनकी यह दुर्बलता न देख ले, इस विचार से उन्होंने प्रकट अपनी उदासीनता को बनाये रखा और कहा—"बस, बस !" और उसे अपनी पत्नी को वापस दे दिया।

दूसरे कमरे में श्रीमती कोलार्कर बच्चे को सुला रही थीं और नींद भरे स्वप्निल स्वर में सिसकते-सिसकते माँ के साथ-साथ बच्चा कह रहा था, "पापाजी को तंग नहीं करता, अपने पत्तों से खेलता है, बाज़ार से दो चार लायेंगा, पापाजी का खेल नहीं छेड़ेंगा !" और अपने कमरे में श्री० कोलार्कर बिस्तर पर लेटे बड़ी बेचैनी से करवटें बदल रहे थे।

माँ के स्निग्ध, सजल चुम्बनों से नन्हें के नेत्र मुँद गये और वह सो गया, किन्तु निद्रावस्था में भी वह सिसक रहा था। करुणा और स्नेह से अभिभूति एक दृष्टि उस पर डाल कर श्रीमती कोलार्कर अपने पति के कमरे में आईं।

"क्यों, सोये नहीं ?"

"नींद नहीं आ रही।"

"सिर दबा दूँ ?"

"नहीं !"

"क्यों, क्या बात है ?"

"सोचता हूँ, योंही बच्चे को पीट दिया।"

"फिर क्या हुआ, मैं नहीं पीटती क्या ?"

किन्तु श्री कोलार्कर को सान्त्वना न मिली। बोले, "मुझे व्यर्थ ही गुस्सा आ गया। बच्चा तो बच्चा ही है। इस प्रकार पीटने से बच्चे के दिल में डर बैठ जाता है।"

"डर किसी का तो होना ही चाहिए, मुझसे तो ज़रा भी नहीं डरता।"

श्री कोलार्कर के अहम् को सान्त्वना मिली, किन्तु उनकी झुँझलाहट दूर न हुई। उन्होंने अपनी पत्नी से जाकर सोने के लिए कहा और करवट बदल ली।

श्रीमती कोलार्कर कमरे की बत्ती बुझा कर चुपचाप चली गईं। अपने कमरे में जाकर उन्होंने टेबल लैम्प भी बुझा दिया, ताकि उन के पति की नींद में किसी प्रकार की बाधा न पड़े।

किन्तु उस घने अंधकार में समस्त घटना अपने सूक्ष्म-से-सूक्ष्म विवरण के साथ श्री कोलार्कर के सामने घूम गई और यह सोच कर कि उन्होंने बच्चे को निपट-निर्दोष पीटा है, उनकी नींद बिल्कुल उड़ गई।

एक घंटे के बाद उनकी पत्नी फिर उनके कमरे में आई।

"सोये नहीं क्या ?"

कोलार्कर सहसा हँस दिये, "नींद नहीं आई !"

"आप तो नन्हें से बढ़ गये"—वह उनके सिरहाने आ बैठी और बड़े प्यार से उनका सिर दबाते हुए बोली, "उसे तो कुछ याद भी न रहेगा, देख लीजिएगा, प्रातः उठते ही आप को 'गुड-मार्निङ्ग' बुलायेगा और अब तंग भी न करेगा। कभी-कभी दो-चार थप्पड़ लगाने में कोई

हानि नहीं !" और इस प्रकार सान्त्वना देते हुए वह उनकी कनपटियाँ सहलाने लगी।

कुनमुना कर श्री कोलार्कर ने अपना सिर अपनी पत्नी की गोद में रख दिया।

दस मिनट ही में वे ख़र्राटे लेने लगे।

बहुत धीरे से उनकी पत्नी ने उनका सिर पुनः तकिये पर टिका दिया। बिना शब्द किये बिस्तर से उतरी, क्षण भर उन्हें सोये हुए देखती रही, फिर दूसरे कमरे में जाकर उसने अनायास अपने सोये हुए बच्चे को चूम लिया।

खटक

"आज तो रधिया ने बड़ा अच्छा खाना पकाया है," शिव प्रसाद ने अपनी पत्नी से कहा और भर-पेट स्वादिष्ट-भोजन पाने की आनंद-दायक अनुभूति के साथ गाव-तकिये का सहारा लेते हुए टाँगें फैला दीं।

उनकी पत्नी ने पंखे को ज़रा और तेज़ कर दिया और उनके पास आ बैठी।

शिव प्रसाद की आँखों में हल्की-हल्की गनोदगी छाने लगी। तन्द्रिल स्वर में बोले, "इतना अच्छा पुलाव इसने आज तक कभी नहीं पकाया। क़ोर्मा भी बेहद लज़ीज़ था और दही में प्याज़ के क़तलों के साथ पोदीना—वाह !"

पत्नी ने कहा, "मन होता है तो अच्छा पकाती है नहीं रोज़ बेगार टालती है।"

"तुम कभी किसी की प्रशंसा न करोगी कंची, चाहे कोई मर जाय

बेचारा !" और हँस कर शिव प्रसाद ने करवट बदल ली।

"जी हाँ ! मैं हूँ जो ऐसी फूहड़ !"

तनिक मुड़ कर कनखियों से शिव प्रसाद ने देखा—भ्रू-भंग था और ओठ फड़फड़ा रहे थे। वे कुछ उत्तर देना चाहते थे, किन्तु सहधर्मिणी की यह आकृति देख कर चुप बने रहे। किस समय चुप साध लेना श्रेयस्कर है, कब बात का पहलू बदलना और कब गर्ज उठना—ये सब बातें उन्होंने अपने इस चार वर्ष के वैवाहिक जीवन में भली-भाँति जान ली थीं। इसीलिए यद्यपि उनकी पलकें इतनी भारी न हुई थीं कि झुक कर बन्द हो जातीं, किन्तु उस समय शिव प्रसाद ने उन्हें बन्द कर लेने में ही अपना कल्याण समझा।

श्रीमती जी इस ताक में थीं कि वे कुछ उत्तर दें तो उनके इस आनन्द को तनिक हल्का करने का शुभ-प्रयत्न करें, किन्तु शिव प्रसाद टस के मस न हुए। तभी रधिया ने अपने बारीक, सानुनासिक, मीठे, लटकते से स्वर में कहा, "बाबू जी पान न खायँगे आप ?"

रधिया का यह स्निग्ध-तरल स्वर शिव प्रसाद को सदैव भला प्रतीत होता था। उन्हें अपनी स्वर्गीया माँ का स्मरण हो आता था, जिसे उन्होंने कभी देखा न था और यदि शैशव में कभी देखा भी था तो वह स्मृति इतनी धुँधली थी कि वे कभी उसे रेखाओं में अंकित न कर पाये थे। माँ के लाड-प्यार के सम्बन्ध में उन्होंने बहुत कुछ पढ़ा और सुना था और रधिया जब उन्हें बुलाती थी तो उसके स्वर में उन्हें वैसी ही तरलता, कोमलता और स्निग्धता महसूस होती थी जिसकी कल्पना वे अपनी माँ के स्वर में किया करते थे। और यद्यपि वह उन्हें 'बाबू जी' कह कर पुकारती थी, किन्तु उन्हें सदैव यही लगता था मानो वह 'बेटा' कह कर पुकार रही हो।

"बाबू जी पान न खायँगे आप ?" शिव प्रसाद को लगा मानो वह कह रही है "बेटा पान न खाओगे तुम ?" उनका जी चाहा—बेटों ही की तरह लाड से उसे कोई उत्तर दें, किन्तु तभी उन्हें ध्यान हो आया कि रधिया तो उनकी नौकरानी है और उनकी सहधर्मिणी का यह आदेश है कि नौकरों को सदैव नौकरों की जगह पर रखना चाहिए। तनिक ढील दो तो वे अपनी हस्ती भूल जाते हैं, सिर को आने लगते हैं—और अपनी भावनाओं को दबा कर, वाणी को संयत करके और स्वर को ज़रा मालिकाना बना कर उन्होंने कहा, "हाँ ले आओ पान !"

रधिया तश्तरी में पान ले आई। शिव प्रसाद ने ज़रा सा उठ कर एक बीड़ा उठा लिया। फुर्ती से रधिया ने उगालदान लाकर बड़ी सावधानी से उनके पास रख दिया।

"बेहद नफ़ीस पान बनाया है तुमने रधिया !" पान चबाते-चबाते अपने मालिकाना स्वर को भूल कर शिव प्रसाद ने कहा, "आनन्द आ गया—सचमुच !"

रधिया के चेहरे की झुर्रियाँ निमिष मात्र के लिए मिट सी गईं, सिर और आँखें झुक गईं, लाल-लाल दाँत चमक उठे और चुनरी को अपने पतले-सिकुड़े सीने पर ठीक करते हुए उसने लजाते-लजाते कहा, "आप की किरपा है बाबू जी।"

"खाना भी आज अच्छा पका था।"

वास्तव में 'अच्छा' से पहले वे 'बेहद' का विशेषण लगाना चाहते थे, किन्तु इस बीच में उनकी आँखें श्रीमती कंचनमाला से चार हो गई थीं और उन्होंने मात्र अच्छा कह देना ही पर्याप्त समझा था। और स्वर को भी ऐसे बना लिया था मानो कह रहे हों—'साहब बहुत खुश हुए !'

इस के उत्तर में रधिया का सिर तनिक और झुक गया, उसकी मुस्कान कुछ और फैल गई और उसके गाल और ठोढ़ी पर गोदने के चिन्ह कुछ और उभर आये।

पान को मज़े से चबाते और आनन्द से उसके रस को पपोलते हुए शिव प्रसाद फिर लेट गये। उन्हें पान खाने का कुछ ऐसा व्यसन न था। कभी जब उन्हें खाना बहुत अच्छा लगता था तो वे पान भी ले लेते थे। शायद इसी बात की ओर इशारा करते हुए रधिया ने कहा, "आप तो खाते ही नहीं बाबू जी, नहीं मैं तो वह पान खिलाऊँ कि उम्र भर न भूलें।"

शिव प्रसाद हँसे--"दुनिया में केवल तीन चीज़ें रधिया संयोग ही से रुचि के अनुसार मिलती हैं—पान, चाय का प्याला और पत्नी! इसका क्या भरोसा है कि आज जो पान मिला है, ऐसा ही कल भी मिलेगा।"

"पति तो सदा अच्छे ही मिल जाते होंगे!" कंचनमाला तिनक कर बोलीं।

"पत्नी में पति शामिल है", शिवप्रसाद ने हँसते हुए कहा, "मैं पति हूँ, इसलिए मैंने पत्नी का नाम लिया, कोई पत्नी यही बात कहती तो पति का नाम लेती, मैंने छोटे-बड़े सब तरह के होटलों में चाय पी है। कई बार किसी साधारण से रेस्तोराँ में चाय का प्याला रुचि के अनुसार मिल जाता है और कई बार बड़े-से-बड़े होटल में नहीं मिलता। ऐसा प्याला जिसमें चाय, चीनी और दूध उचित मात्रा में, बिलकुल रुचि के अनुसार मिले हुए हों, कभी ही मिलता है। पान का भी यही हाल है और बीवी—उसका मन-पसन्द मिलना तो और भी संयोग की बात है।" और अपने इस मज़ाक पर स्वयं हँस कर वे फिर गाव-तकिये के

सहारे लेट गये और पत्नी की ओर देखे बिना उन्होंने आँखें बन्द कर लीं।

रधिया ने पान की तशतरी मालकिन की ओर बढ़ाई।

मालकिन ने टेढ़ी नज़र से तशतरी की ओर देखा और फिर भँवें सिकोड़ते हुए पान उठा लिया, लेकिन मुँह में रखते ही उन्होंने कहा, "यह पान बनाया है तुमने या जोशांदा?—इतनी सौंफ और मुलहठी डाल दी है।"

"बाबू जी को खाना था इसलिए," रधिया ने कहा, "नहीं हम लोग तो छालिया के अलावा पान में कुछ नहीं डालते—इलायची तक भी नहीं।"

"तो क्या हमें तुमने पशु समझा है?" और श्रीमती कंचनमाला ने पान जाकर थूक दिया।

"बाबू जी मीठा पान पसन्द करते हैं बीबी जी!" रधिया ने सफ़ाई दी।

शिव प्रसाद ने वहीं लेटे-लेटे ठहाका मारा और टाँगें पूरी तरह फैलाकर चादर मुँह पर खींच ली और आँखें बन्द कर लीं।

उस समय रधिया ने तनिक समीप होकर कहा, "एक बिनती थी मेरी बाबूजी।"

"हूँ!" शिवप्रसाद ने पूर्ववत आँखें बन्द किये हुए कहा।

"सुनते हैं बाबूजी इस बरस पार साल से भी बुरी दसा होगी, गेहूँ तो दूर रहे चने तक रुपये के सेर-सेर मिलेंगे, यदि आप कुछ परवस्ती करें यो बड़ी दया हो।"

तन्द्रिल स्वर में शिव प्रसाद ने कहा, "हूँ!"

"बाल-बच्चे आपका गुण गायेंगे। हम ग़रीबों का आप के सिवा कौन है?"

कंचनमाला ने वापस आकर पूछा, "तू चाहती क्या है ?"

बीबी जी गेहूँ आ गया है बाज़ार में—रुपये का साढ़े तीन-चार सेर मिलने लगा है—पर सुनती हूँ कुच्छेक दिन में मोल फिर चढ़ जायगा और फिर देखने को भी दाना हाथ न आयगा। आप का बड़ा दान होगा बीबी जी, यदि आप गेहूँ की एक बोरी ले दें। चार छः महीने गुज़र जायँगे। चने मिला कर खा लिया करेंगे।"

"एक बोरी ले दें !"

"लोग सर्दियों के लिए गेहूँ भर रहे हैं बीबी जी। सुनती हूँ सर्दियों में गेहूँ किसी दाम पर भी हाथ न आयगा, न जाने यह निगोड़ी लड़ाई कब तक रहेगी !"

कंचनमाला ने चिन्तित होकर कहा, "गत-वर्ष भी तो यही हाल हुआ था। पहले-पहल रुपये का छः सेर मिलता था, फिर तीन सेर भी हाथ न आया था। बहुतेरा कहती थी इनसे कि कुच्छेक बोरियाँ ले लो, पर ये सुनते ही न थे—एक रुपये के आटे के लिए मैं सारी 'खारी बावली' घूम आई थी।"

"इसी लिए कहती हूँ बीबी जी, आप का दान होगा। मेरी पगार में से रुपये काट लीजिएगा।"

"तुम्हारी पगार है ही कितनी ?"

"चार छः महीने में उतर जायँगे।"

"लेकिन अब तो महीना खत्म होने को है। इनकी तनखा तो कब की चुक गई। कल चीनी तक के लिए पैसे न थे।"

"जी आपके यहाँ क्या कमी है बीबी जी ?"

"हाँ, हाँ, दिला देंगे रधिया !" शिव प्रसाद ने नींद से भारी स्वर में कहा, "शाम को याद दिला देना।"

रधिया उन को आशीर्वाद देती चली गई तो कंचनमाला ने

कहा, "मैं भी सोचती थी कि आज इतना अच्छा जो खाना पका है, तो बे-मतलब नहीं।

किन्तु शिव प्रसाद ने इसका कोई उत्तर नहीं दिया। आँखें बन्द किये चुपचाप पड़े रहे।

पड़े तो रहे, किन्तु उन्हें नींद न आई। स्वादिष्ट भोजन भर-पेट खाने के कारण उनकी आँखों में जो हल्की-हल्की तन्द्रा छा रही थी, उसे पेट भरने के लिए प्रति-दिन किये जाने वाले इस श्रम और संघर्ष के विचार ने सर्वथा उड़ा दिया। युद्ध से पैदा होने वाली परिस्थितियाँ एक-एक करके उनके सामने आने लगीं। निम्न और मध्य दोनों वर्गों को किस विपत्ति का सामना करना पड़ रहा था उन दिनों, वे सोचने लगे :

......उनके लड़के को पढ़ाने के लिए एक अध्यापक आया करते थे। अपने अर्धचेतन मन में शिव प्रसाद उन से इतनी घृणा करते थे कि आज तक उनका नाम तक जानने की इच्छा उन्होंने प्रकट न की थी। उनका लड़का पाँचवीं श्रेणी में पढ़ता था, गणित में कुछ कमज़ोर था, स्वयं उसे पढ़ाने के लिए समय न निकाल पाते थे, इस लिए उन्होंने मित्रों से कह रखा था कि यदि कोई ट्यूटर मिले तो उन्हें बता दें। युद्ध के कारण न केवल जीवन की आवश्यकता की चीज़ें मँहगी हो गई थीं वरन् मज़दूरों की मज़दूरी, ताँगे वालों का किराया, नौकरों का वेतन और ट्यूटरों की फ़ीस तक बढ़ गई थी। जो नौकर पहले पाँच रुपये महीने पर प्रसन्नता से आ जाता, वह पन्द्रह रुपये पर भी आने से इनकार कर देता। ट्यूटर तो मिलते ही न थे। मैट्रिक पास से लेकर बी० ए० तक सब युवक, सेक्रेटेरिएट के आस पास, मानो जादू के प्रभाव से अस्तित्व पा जाने वाले, अगणित खैमों और

अस्थायी हटमेंट्स में समा गये थे। जो शेष थे, उनके पास इतना काम था कि वे सीधे मुँह बात भी न करते थे।

एक शाम जब वे निरन्तर तीन महीने तक ट्यूटर की प्रतीक्षा करने के बाद हार कर स्वयं ही बच्चे को पढ़ाना आरम्भ करने लगे थे तो एक महाशय उन से मिलने आये। उनकी आयु, जैसा कि उन्हें बाद में पूछने पर ज्ञात हुआ, पैंतालीस वर्ष की थी, किन्तु देखने में वे पचपन के लग रहे थे। उन के सिर पर कुछ रूखे-खरखरे बाल थे, जिन पर एक मैली सी गाँधी टोपी अटकी हुई थी। कल्ले अन्दर को धँसे हुए थे, जबड़ों की हड्डियाँ उभर आई थीं। सामने के चार दाँत टूटे हुए थे, दाढ़ी के खिचड़ी बाल बढ़ आये थे और कटे हुए सरकंडों की खूँटियों से खड़े थे, मैली सी खुले गले की कमीज़ और उस पर एक पुराना सा कोट उन्होंने पहन रक्खा था। कमर में टखनों तक ऊँचा पायजामा था—मालूम होता था जैसे किसी पुरानी पतलून को काट कर बनाया गया है, क्योंकि कपड़ा मोटी सफ़ेद ज़ीन का था और घुटनों पर पैवन्द लगा हुआ था। पाँव मैले-कुचैले थे और उन्होंने घिसे हुए पुराने सलिपर पहन रखे थे।

प्रोफ़ेसर शिव प्रसाद तो उनकी सूरत देखकर ही उन्हें जवाब दे देते, किन्तु वे महाशय उनके एक प्रिय मित्र की सिफ़ारिशी चिट्ठी भी लाये थे, जिसमें लिखा था कि वे नार्मल पास हैं, एक प्राइमरी स्कूल में पढ़ाते हैं और बच्चों को शिक्षा देने में उन्हें विशेष निपुणता प्राप्त है।

इन अध्यापक महोदय को उनके यहाँ आते डेढ़ वर्ष हो गया था। इस बीच में उनके पतलून नुमा पायजामे में और भी कई पैवन्द लग गये थे; क़ोट इतना फट गया था कि उन्हें विवश हो उसे विदा देनी पड़ी थी; जबड़ों की हड्डियाँ कुछ और उभर आई थीं, दाढ़ी के बाल कुछ

ज़्यादा बढ़े बढ़े रहने लगे थे, पक भी सारे गये थे और बच्चे पढ़ाने के अतिरिक्त अब वे लोगों को घी और गेहूँ भी सप्लाई किया करते थे— शनि की सन्ध्या को दिल्ली के निकटवर्ती देहात में चले जाते और कभी घी का कनस्तर और कभी मन-डेढ़ मन गेहूँ सिर पर लाद कर इतवार को वापस लौटते। इस तरह उन्हें कुछ पैसे बच जाते, लेकिन लोगों को घी और गेहूँ सप्लाई करने के बावजूद उन के घर तेल की तरकारी बनती और गेहूँ में जौ मिलाये जाते। जब सन्ध्या के समय वे उनके लड़के को पढ़ाने आते, तो मूढ़े पर बैठे-बैठे थकान-मात्र से उनकी आँखें मुँदने लगतीं—रोज़ शिव प्रसाद चाहते कि उनको जवाब दे दें, किंतु इच्छा होने पर भी, श्रीमती कंचनमाला के बार-बार अनुरोध करने पर भी, वे अभी तक उन्हें जवाब देने का साहस न कर पाये थे।

शिव प्रसाद ने बेचैनी से करवट बदली।

.........पिछले इतवार वे पूर्ववत दिन चढ़े तक सो रहे थे कि अचानक पड़ोस में शोर सुन कर जाग उठे। ज्ञात हुआ कि पड़ोस में जो क्लर्क रहते हैं, उनमें और उनके छोटे भाई में जंग हो रही है। उनका भाई कुछ ही दिन पहले अचानक दिल्ली आ गया था—माँ ने भेज दिया था कि बड़ा भाई कहीं नौकर करा देगा—इतनी जल्दी नौकरी मिल जाती है दिल्ली में! लड़का कुछ खिलंडरा और बेपरवाह सा था। प्रातः-सायं व्यायाम करता, डंड पेलता, बैठक लगाता, सुबह लस्सी और शाम को दूध पीने की उसे आदत थी, किन्तु दूध लस्सी तो दूर रहे, जिस दिन से आया था, भाभी ने सालन तेल से बनाना आरम्भ कर दिया था और आटे में बेसन मिला दिया था। छोटा भाई रो रहा था, शिकायत कर रहा था कि भाभी ने उस पर व्यंग्य किया है कि इस का बस चले तो आदमी मार कर खा जाय।

बड़े भाई (मुर्दार की गंध पाकर उड़ आने वाले गिद्धों की भाँति इकट्ठे हो जाने वाले) पड़ोसियों को सफ़ाई दे रहे थे कि तीन चार वर्ष पहले जब यही भाई उनके पास एक वर्ष तक रह गया है और कोई ऐसी बात नहीं हुई तो इस बार ही क्योंकर हो सकती है। अवश्य ही उसे भ्रम हुआ है।

......दो दिन हुए उन की मेहतरानी की गोद की बच्ची मर गई थी। शिव प्रसाद ने शोक प्रकट किया तो बेचारी रो दी। "बीमारी क्या हुई थी ?" उन्होंने पूछा था।

"बीमारी क्या होती बाबू जी !" मेहतरानी ने आँसू पोंछ कर कहा, "भूख के दुख से मर गई।"

"भूख के दुख से !" एक ठंडी सनसनी सी शिव प्रसाद के शरीर में दौड़ गई।"

'और क्या बाबू जी," मेहतरानी बोली, "पहले तो सूखी रोटी के साथ कुछ दाल तरकारी मिल भी जाती, अब तो वह भी नहीं। गेहूँ हम ग़रीबों के भाग्य में कहाँ ! इस गर्मी की ऋतु में बाजरे और जौ की रोटियाँ खाने से मेरी छातियाँ सूख गईं, लाख चाहती, पर दूध न उतारता, सूख-सूख कर बच्ची मर गई।"

"तुम दूध पीकर देखतीं, कंचन को भी यही शिकायत थी, दूध वह पीती न थी और डाक्टर कहता था—जितना भी दूध पिया जाय, अच्छा है।"

"आठ आने सेर दूध बाबू जी, मैं कहाँ पाती उतना दूध ? एक दो दिन की बात होती तो किसी-न-किसी तरह प्रबन्ध कर लेती, किन्तु रोटियों के तो लाले पड़े रहते हैं, दूध कहाँ से आता ?......"

सोचते सोचते शिव प्रसाद की कनपटियाँ दुखने लगीं। वे स्थानीय कालेज में प्रोफ़ेसर थे। दो सौ रुपया पाते थे। यद्यपि महँगाई ने उनके दैनिक जीवन पर भी प्रभाव डाला था, किन्तु उनके घर में उनकी पत्नी और बच्चे के अतिरिक्त दूसरा कोई न था—माँ बाप खाते-पीते आदमी थे और उनसे कुछ पाने के बदले उन्हें कुछ देते ही रहते थे। इसलिए इस महँगाई को उन्होंने उस तीव्रता से महसूस न किया था। इसमें सन्देह नहीं कि इन तीन वर्षों में वे केवल एक ही गर्म सूट सिला पाये थे और श्रीमती कंचनमाला इस बीच में चार-पाँच रेशमी साड़ियों से अधिक न खरीद पाई थीं। और बाज़ार में छः आने वाला मोज़ा डेढ़ रुपये और दस आने की क्रीम अढ़ाई रुपये को मिलती थी। किन्तु उनके पास सूटों, साड़ियों, मोज़ों, रुमालों और साधारण आवश्यकता की दूसरी चीज़ों का इतना बाहुल्य था कि परिस्थिति की यह यथार्थता उनकी कल्पना से परे की बात थी कि साधारण आवश्यकता की चीज़ों का खरीद पाना भी आजकल कष्ट-साध्य हो गया है।

उन्हें यदि कुछ कष्ट हुआ भी तो अनाज आदि इकट्ठा करने के सिलसिले में हुआ था। वे जो कमाते थे, खर्च कर देते थे। बचाना उन्होंने कभी सीखा न था। इसलिए गत-वर्ष लकड़ियाँ, कोयले और आवश्यकता की दूसरी चीज़ें वे एक दम इकट्ठी न ले पाये थे। एक कारण यह भी था कि उन्हें किसी ने बताया था--गेहूँ पर कन्ट्रोल होने वाला है, अनाज सस्ता हो जायगा—लेकिन मुसीबत तो यह थी कि जिस चीज़ पर कन्ट्रोल होता, वही बाज़ार से ग़ायब होकर ब्लैक-मार्केट में चली जाती। और ब्लैक-मार्केट में जाकर कोई चीज़ खरीदना उनके बस की बात न थी—एक दिन जब वे दियासलाई की डिबिया लाने गये तो उनके आश्चर्य की सीमा न रही जब उन्हें बाज़ार में दो आने तक भी

घटिया वनस्पति घी की दुर्गन्ध से बचने के लिए मुँह को चादर के पल्लू से ढाँपे, वे रामभज दत्त के मकान के नीचे पहुँचे। सीढ़ियों के साथ जो चीनी की दुकान थी, वहाँ इतनी भीड़ लगी हुई थी कि गुज़रना मुश्किल था। सेर दो-सेर चीनी के लिए लोग एक दूसरे पर पिले पड़ते थे। और इस बाज़ार में गुड़ शक्कर और चीनी की इतनी बहुलता होती थी कि शाम-सवेरे उड़ने वाली भिड़ों और मधु-मक्खियों के मारे गुज़रना तक कठिन हो जाता था।

प्रोफ़ेसर शिव प्रसाद ने रामभज दत्त को कई आवाजें दीं, किन्तु वहाँ इतना कोलहाल मचा हुआ था कि पूरे ज़ोर से चिल्लाने पर भी आवाज़ रामभज दत्त तक न पहुँची, तब किसी-न-किसी तरह भीड़ में रास्ता बना कर वे सीढ़ियों तक पहुँचे और ऊपर जाकर थकन के मारे आराम कुर्सी पर लेट गये। इस संघर्ष में उनकी रेशमी चादर फट गई थी, कुर्ता मैला हो गया था और उस पर सिलवट पड़ गये थे।

"यह लड़ाई कम्बख्त कब ख़त्म होगी ?" कुछ देर सुस्ताने के बाद उन्होंने रामभज दत्त से कहा था, "जीवन दूभर हो गया है। आटा, घी, चीनी, लकड़ी-कोयला कुछ भी तो नहीं मिलता और तो और यह कम्बख़्त दियासलाई की डिबिया भी एक अमोल शै बन गई।"

"यह तो दिखाई ही दे रहा था," रामभज दत्त ने भविष्यद्-वेत्ताओं के से अन्दाज में कहा।

"परन्तु......"

परन्तु वे क्या कहना चाहते थे, शिव प्रसाद तै न कर पाये।

रामभज दत्त ने कहा, "मैंने तुम से पिछले साल भी कहा था, पर तुम ऐसे साधु आदमी हो कि माने ही नहीं, मेरी ओर देखो—साल भर का राशन जमा कर रखा है" और वह शिव प्रसाद को सगर्व अपने साथ

अन्दर ले गया। बरामदे में एक दूसरी के ऊपर गेहूँ की दस बोरियाँ रखी हुई थीं।

"अन्दर गोदाम में कम-से-कम दो बोरियाँ चीनी की होंगी", रामभज दत्त ने गर्वस्फीत स्वर में कहा, "और लुत्फ़ की बात यह है कि मैंने रुपये के छः सेर गेहूँ खरीद कर जमा कर रखे हैं। जब तक ये ख़त्म होंगे, मैं और ख़रीद लूँगा।"

शिव प्रसाद ने ईर्ष्या-मिश्रित आश्चर्य से उस दूरदर्शी की ओर देखा और फिर जैसे विवशता से कहा, "भाई, जैसे भी हो, मेरे लिए कम-से-कम सर्दियों भर के लिए राशन और दूसरे सामान का प्रबन्ध कर दो। कंचन मेरी जान खा गई है और तुम जानते हो, मेरे पास इस भीड़ में लड़-झगड़ कर चीज़ें हासिल करने के लिए न समय है, न साहस!"

और वे आकर चुपचाप कुर्सी पर बैठ गये। इसके बाद अपनी इस कारगुज़ारी से फूल कर रामभज दत्त अपने कारनामों के सम्बन्ध में जो बातें सुनाता रहा, उन्होंने उनमें से एक भी नहीं सुनी। उनका मस्तिष्क तो दिन-ब-दिन उलझती हुई इस आर्थिक समस्या को सुलझाता-उलझाता रहा। उनके मन पर कुछ ऐसी उदासी, कुछ ऐसी शिथिलता, कुछ ऐसा हीन-भाव छा गया था कि रामभज दत्त की किसी बात का उत्तर देना उनके लिए कठिन हो गया। बीस-तीस मिनट इसी तरह बैठे रहने के बाद वे उठ खड़े हुए और रामभज दत्त से पुनः राशन का प्रबन्ध कर देने की प्रार्थना करके नीचे उतर आये।

नीचे भीड़ पहले से ज़्यादा हो रही थी। कुछ लोग इस भीड़ में रास्ता बनाने की शक्ति न पाकर, थक-हार कर, आस-पास की दुकानों के तख्तों पर बैठ गये थे—ये लोग यदि पंक्ति बाँध कर खड़े हो जायँ तो बड़ी आसानी से सब को सब चीज़ मिल जाय और समय भी कम

लगे--शिव प्रसाद ने सोचा--लेकिन शायद बलशालियों को यह स्वीकार न था, इसे शायद वे अपने बल का अपमान समझते थे। एक उपेक्षा की दृष्टि इन पशुओं की भाँति लड़ने वालों पर डाल कर भीड़ में किसी-न-किसी तरह मार्ग बना कर वे बाहर निकले।

"साम्राज्य के दूसरे बड़े नगर में मानवता की छीछालेदर"

समाचार बेचने वाले लड़के के स्वर से वे चौंके। उन्होंने एक समाचार-पत्र ख़रीदा। पहले ही पृष्ठ पर मोटी सुर्ख़ी से लिखा था।

बङ्गाल में दुर्भिक्ष का आतंक

कलकत्ता की सड़कों पर लोग भेड़-बकरियों की तरह मर रहे हैं

शिव प्रसाद एक ही दृष्टि में सारे का सारा समाचार पढ़ गये। समाचार के साथ पत्र में दुर्भिक्ष से पीड़ित लोगों के अत्यन्त करुणाजनक चित्र भी थे। शिव प्रसाद का समस्त शरीर काँप उठा। उस समय वे नया बाज़ार से गुज़र रहे थे। दोनों ओर आढ़तियों की दुकानें अनाज की बोरियों से लदी पड़ी थीं। बाज़ार में छकड़ों, गाड़ियों, शकरमों के मारे गुज़रना महाल था। कुछ ही दिन पहले उन्होंने पढ़ा था कि इस साल फ़सल बड़ी अच्छी हुई है, किन्तु इतना अनाज होने पर भी पड़ोस के प्रान्त में लोग भूखों मर रहे हैं। इन छतों तक लदे हुए अनाज के बोरों की ओर देखते-देखते उन के सामने रामभज दत्त के बरामदे में छत तक लगी हुई बोरियाँ घूम गईं और फिर ऐसे सहस्रों घर जिनमें छः-छः महीने, साल-साल भर के लिए अनाज ख़रीद कर जमा किया गया था—सहस्रों घरों में आवश्यकता से कहीं अधिक अनाज भरा पड़ा है और लाखों घर भूख

और अकाल को अपने आँगन में पाल रहे हैं—और वे स्वयं यही बात करने जा रहे थे—आत्म-ग्लानि से उनका हृदय भर आया।

सन्ध्या को जब वे घर पहुँचे और श्रीमती कंचनमाला ने पूछा कि वे अनाज का प्रबन्ध कर आये हैं कि नहीं तो वे चुप रहे, किन्तु जब रधिया ने उनको अपना वादा याद दिलाया तो उन्होंने कह दिया कि चाहे जैसे हो वे हर महीने अनाज का प्रबन्ध कर देंगे, किन्तु इकट्ठा करके रखने में, कम-से-कम वे किसी प्रकार की सहायता न देंगे।

श्रीमती कंचनमाला ने यह सुना तो क्रोध की एक हुंकार भर कर वे रसोई-घर में अपने काम पर जा लगीं। दूसरे दिन जब प्रो० साहब कालेज से आये तो उन्होंने देखा—बरामदे की छत तक अनाज की बोरियाँ लगीं हुईं हैं—श्रीमती कंचनमाला उनके जाने के बाद अपने पिता के घर गई थीं और उनके आने से पहले पहले उन्होंने साल भर का अनाज ख़रीद कर भर लिया था।

एक अवश क्रोध से शिव प्रसाद काँप कर रह गये। क्रोध उन्हें केवल कंचनमाला ही पर नहीं, वरन् अपने आप पर भी आया। क्योंकि उस ढेर को देखकर कहीं उनके अंतर्-मन में संतोष की एक साँस उभर कर उनके ओठों तक आ गई थी। उनका मस्तिष्क उस स्वार्थ पर क्रुद्ध था। अंतर-द्वंद्व के मारे उनके लिए घर में बैठना दुष्कर हो गया।

वे उठे और मकान के पिछली ओर वाटिका में जा बैठे। बैठे रहे और कुढ़ते रहे—उनके घर में अनाज छत तक लगा हुआ है और उनके आस-पास सहस्त्रों लोग भूखे मर रहे हैं—यदि ये सब मिल कर उनका ग़ल्ला छीन लें....और क्षण भर के लिए उनके सामने उस युद्ध का दृश्य घूम गया। फिर धीरे-धीरे वह युद्ध एक महा-क्रान्ति में

बदलता गया—सब कुछ जैसे उनके सामने स्पष्ट हो गया। अपने प्रश्नों का जैसे उन्हें उत्तर मिल गया—यह युद्ध उस समय तक जारी रहेगा, जब तक संसार के प्रत्येक राष्ट्र, संसार की प्रत्येक जाति, प्रत्येक मानव को जीने, खाने-पीने और उन्नति करने का समानाधिकार नहीं मिलता।

शिव प्रसाद उठे – सामने क्षितिज पर फिर बादल घिर आये थे। तेज़ हवा चलने लगी थी, देखते-देखते सारा आकाश तिमिराछन्न हो गया। शिव प्रसाद ने एक दीर्घ-निश्वास छोड़ा—यह तिमिर और ज्योति का युद्ध ! न जाने कब तक यह अन्धकार प्रकाश को आच्छन्न किये रहेगा—वे चुपचाप अँधेरे ही में टहलने लगे। टहलते रहे और सोचते रहे। धीरे-धीरे घटा गुज़र गई। चाँद फिर चमकने लगा और विशाल नीला आकाश जैसे उसकी ज्योत्सना से धुल-निखर कर जगमगा उठा। वाटिका की दीवार के सहारे खड़े-खड़े शिव प्रसाद अनिमेष दृगों से उस ज्योति-पुंज की ओर देखने लगे, जो इस घटा के गुज़र जाने के बाद और भी पावन, और भी पवित्र, और भी ज्योतिर्मय दिखाई दे रहा था। शिव प्रसाद ने अनुभव किया जैसे धीरे-धीरे उस की ज्योत्स्ना उन के हृद्रय में भी प्रवेश कर रही है और उनके हृदय की अँधेरी गुफा इस पवित्र-ज्योत्स्ना से जगमगा उठी है।

कैप्टन रशीद

"मैं हनीफ़ के बारे में कह रही थी, अपनी इस नयी स्कीम में उसे क्यों नहीं ले लेते ?"

कैप्टन रशीद अपनी ट्यूनक के बटन बन्द करते हुए अपने स्वभावानुसार कमरे में चक्कर लगा रहे थे। उनका मस्तिष्क अपने अखबार की कायापलट करने में निमग्न था। कल्पना-ही-कल्पना में उन्होंने नये, योग्य और अनुभवी सम्पादक चुन लिये थे। प्रेस को नया टाइप ढालने और हैड आफ़िस को बेहतर काग़ज़ सप्लाई करने पर विवश कर दिया था। अखबार सुन्दर टाइप में, सुन्दर कागज़ पर छपने लगा था। उसमें चित्रों के पृष्ठ बढ़ गये थे। उसके सम्पादन में अब आकाश-पाताल का अन्तर आ गया था और सैनिकों के लिए वह पहले से कहीं अधिक उपयोगी हो गया था। तन्द्रावस्था में कानों के पर्दों से टकराने वाली अस्पष्ट ध्वनियों की भाँति उनकी पत्नी के ये शब्द उन-

के कान में पड़े। उनकी भवें तन गईं और कुछ मुड़ कर आश्चर्य-मिश्रित-क्रोध से उन्होंने अपनी पत्नी की ओर देखा।

वह बिस्तर पर बैठी चाय बना रही थी। कैप्टन रशीद सुबह नौ बजे के बदले सदैव पौने नौ बजे दफ़्तर पहुँच जाना चाहते थे। अफ़सर थे और उनका ख़्याल था कि अफ़सरों को क्लर्कों से पन्द्रह मिनट पहले अपनी सीट पर होना चाहिए। वे सवा आठ बजे तैयार हो जाते। उन्हें अलार्म लगा कर सुबह उठना पड़ता और उनकी बेगम सोने के कमरे ही में चाय लाने का आर्डर दे देतीं।—प्याले में चीनी डालते हुए बेगम के ओठों पर शिशिर की संकोचशील अरुणाभा की सी मुस्कान फैली और मुख पर प्रार्थना-जनित लाली दौड़ गई। कनखियों से अपने पति की ओर देखते हुए, प्याले को चम्मच से हिलाते-हिलाते उसने फिर वही प्रार्थना दोहरानी शुरू की।

"मैं हनीफ़ के बारे में कह रही थी...... "

"तुम बेवकूफ़ हो!" कैप्टन रशीद ने असंतोष से कहा, भवें सिकोड़ीं, मुँह बिगाड़ा, चाय का प्याला उठाया और फिर कमरे में चक्कर लगाने लगे।

उनकी बेगम चुपचाप उन्हें प्याला उठाये दीवार की ओर जाते देखती रही। उसकी दृष्टि अपने इस कप्तान पति के गंजे होते हुए सिर, सिर के पिछले, जरूरत से ज़्यादा उभरे हुए भाग, पतली सी गर्दन और ढालुवें कंधों से पीठ और सिकुड़े हुए कूल्हों पर फिसलती हुई उस के पावों पर आ टिकी। उसने देखा—उसके पति की चाल में भारी अन्तर आ गया है। उसी दिन क्यों, जब से कैप्टन रशीद इस नये पद पर नियुक्त हुए थे, बेगम रशीद ने इस अन्तर को देखा था। उनकी पतली सी गर्दन अब इस प्रकार अकड़ी रहती थी मानो उसका पट्ठा

चढ़ गया हो। चलते समय वे प्राय: अपनी एड़ियाँ उठा लेते थे और दीवार के पास पहुँच कर जब मुड़ते थे तो एक विचित्र गर्व और महत्व की अनुभूति से पंजों पर लट्टू की तरह घूम जाते थे।

कैप्टन रशीद की चाल ही नहीं, उनके स्वभाव तक में अन्तर आ गया था। उनकी दृष्टि जो पहले एक विचित्र-विवशता से पीड़ित, आकुल, उदास और झुकी-झुकी सी रहती थी, अब कुछ ऐसी तीव्र हो गई थी मानो अपने समक्ष किसी को कुछ समझती ही न हो। बात-चीत करते समय प्रायः दूसरे को मूर्ख समझ कर वे एक विचित्र-व्यंग्य से मुस्करा देते थे या अत्यन्त उपेक्षा से ओठ सिकोड़ लेते थे।

कुछ क्षण बेगम रशीद अपने पति को प्याले से चुस्की लेते और घूमते देखती रही। अपनी खाला के दामाद और अपनी सहेलियों सी बहन के पति को अपनी नयी स्कीम में लेने की प्रार्थना पर उसके पति ने बे-माँगे जो उपाधि उसे दे दी थी, उस पर उसे क्रोध नहीं आया। कैप्टन रशीद ने पहले पहल जब वर्दी पहनी थी तो उसके दोनों जेठ उन्हें देख कर हँसा करते। बड़े जेठ एक विचित्र व्यंग्यमयी मुस्कान से कहा करते "भाई, कैसे कैसे जवाँ-मर्द फ़ौज में भर्ती हो रहे हैं आज कल!" और छोटे उन्हें देखते ही यह शेर गुनगुनाना शुरू कर देते :

तस्वीर मेरी देख कर कहने लगा वह शोख,
यह कारटून अच्छा है अखबार के लिए।

और जेठानियाँ यह सुन कर हँसी को रोकने के लिए मुँह में दुपट्टे ठोंस लेतीं और वह स्वयं लज्जा के मारे सिर झुका लेती। यही कारण था कि अब अपने पति की सफलता, उसकी तनी हुई गर्दन, उसका भ्रू-भंग और उसकी तुनक-मिज़ाजी देख कर उसे एक प्रकार का संतोष ही होता। उसे भली-भाँति ज्ञात था कि अब उसका छोटा जेठ अपना

खाला = मौसी

शेर भूल गया है और बड़े जेठ को भी अपने इस तिनके से भाई की सफलता को देखकर शर्म आने लगी है—आखिर उसके पति ने अपनी योग्यता का सिक्का जमा दिया था ! उसने जो कहा था, कर दिखाया था। अपने खानबहादुर पिता की सिफ़ारिश के बिना, केवल अपने परिश्रम, योग्यता और दयानतदारी के बल पर कैप्टन बना और इस नये पद के लिए चुना गया, उसके कानों में अपने पति के वे शब्द गूँज जाते जो उसने अपनी नियुक्ति के समय कहे थे—"मैं ही पहला हिन्दुस्तानी हूँ जिसे इस आसामी के लिए चुना गया है, नहीं आधी सदी हो गई इस अख़बार को निकलते हुए, कभी कोई हिन्दुस्तानी इस का एडीटर नहीं बना।

उनकी बेगम ने गर्व से अपने पति की ओर देखा कैप्टन रशीद ने प्याला ख़त्म करके तिपाई पर रख दिया था और बिस्कुट दाँतों में लिये घूमने लगे थे। प्याले की बची हुई चाय ख़ाली प्लेट में उँडेलते हुए, बेग़म रशीद ने फिर घुमा-फिरा कर हनीफ़ की बात चलाई।

"आपा* शमीम चाहे हमारी ज़रा दूर की रिश्तेदार होती हैं," उस ने कहा, "पर आप जानते हैं, मैं उन्हें कितना मानती हूँ। हम दोनों में बहनों से ज़्यादा मुहब्बत रही है।"

वह क्षण भर के लिए रुकी ! कैप्टन रशीद पूर्ववत घूमते रहे। बेगम ने फिर कहा—

"ख़ाला शमीम के बारे में परेशान हैं। चार बरस उसकी शादी को हो गये। घर में दो-दो बच्चे हैं लेकिन भाई हनीफ़ को अभी तक कोई अच्छी नौकरी ही नहीं मिली।

वह फिर निमिष भर के लिए रुकी। उसने दूसरे प्याले में चाय ढाली। कैप्टन रशीद निरन्तर घूमते रहे। उनकी भवें तन गईं, जिस

---

*बहन।

से उनके मस्तक पर नाक की सीध में एक आड़ी लकीर बन गई, चलते समय पैरों पर उनके शरीर का बोझ बढ़ने लगा। बेगम ने अपनी बात जारी रखी—

"इस मँहगाई के ज़माने में साठ रुपये से तो एक आदमी की रोटी भी नहीं चलती," उनसे लम्बी साँस भरी, "फिर आपा शमीम के दो-दो बच्चे, सास और ससुर हैं।"

वह प्याले में चीनी हिलाने लगी। कैप्टन रशीद ने अब भी उत्तर न दिया। उनके ओंठ बिगड़ने लगे और दृष्टि में उपेक्षा की लकीर और भी स्पष्ट हो चली, किन्तु एक तो उनका मुख अपनी बेगम की ओर न था, दूसरे वह चीनी हिलाने में निमग्न थी। इस लिए उसकी बात का जो प्रभाव उसके पति की आकृति पर हो रहा था, उसकी ओर ध्यान दिये बिना प्याले में चम्मच हिलाते-हिलाते बेगम अपनी बात कहती रही—

"जिनको अंग्रेज़ी की ए-बी-सी-तक नहीं आती वे तो आज कल दो-दो सौ रुपया पा रहे हैं। हनीफ़ भाई तो बी० ए० आनर्स हैं, लेकिन वे लोग ग़रीब हैं और सिफ़ारिश उनकी........"

अब कैप्टन रशीद के लिए अपने आप को रोकना कठिन हो गया—"ओ बेवकूफ़ औरत!" उन्होंने दिल-ही-दिल में तिलमिलाते हुए कहा, "क्या मैंने किसी की सिफ़ारिश से यह नौकरी हासिल की है? मेहनत, लियाक़त और दयानतदारी—दुनिया में यही कामयाबी की कुंजी है। मैंने यह स्कीम हनीफ़ जैसे मूर्ख, निकम्मे, कामचोर और नाक़ाबिल आदमियों के लिए नहीं बनाई। मुझे तजरुबेकार, मेहनती और ख़ुद Initiative लेने वाले जर्नलिस्ट चाहिएँ!"—लेकिन अपने हमज़ुल्फ़ * की शान में प्रकट उन्होंने कुछ नहीं कहा। उपेक्षा-

* साली का पति।

मिश्रित दया से भरी एक दृष्टि उन्होंने अपनी इस वज्र मूर्ख पत्नी पर डाली। घड़ी में समय देखा। आठ हो गये थे। "मुझे जर्नलिस्टों की ज़रूरत है, क्लर्कों की नहीं!" सिर्फ़ इतना कह कर दूसरा प्याला पिये बिना वे बाहर निकल गये।

उनकी पत्नी निराशा से वहीं-की-वहीं बैठी रही। यद्यपि चीनी कब की हल हो गई थी, पर वह विफल उसमें चमचा हिलाती रही।

कैप्टन रशीद अपने मिलिट्री कान्ट्रेक्टर (ख़ान बहादुर) बाप के तीसरे और सबसे छोटे पुत्र थे। अपने दोनों भाइयों की अपेक्षा वे कृष-काय थे, किन्तु उनका मस्तिष्क अपने भाइयों के मुकाबिले में बड़ी तेज़ी से काम करता था। खेल-कूद में पिछड़ जाने पर भी वे इन दोनों 'बैलों' को (उपेक्षा से दिल ही दिल में वे उन्हें हराम का माल खा खाकर पले हुए बैल कहा करते थे) कहीं पीछे छोड़ देने के स्वप्न देखा करते थे। यही कारण था कि जब उनके दोनों भाई उचित या अनुचित ढंग से कमाई हुई अपने पिता की सम्पत्ति को उचित या अनुचित ढंग से ठिकाने लगाने में निमग्न थे, कैप्टन रशीद जी-जान से शिक्षा-प्राप्ति में रत थे। कालेज की शिक्षा समाप्त करके उन्होंने पत्रकार-कला की शिक्षा ली थी और अभी मुश्किल से उन्होंने जर्नलिज़्म का कोर्स पूरा किया था कि उन्हें कमीशन मिल गया। यद्यपि इस पद के लिए उनके निर्वाचन की तह में खान बहादुर का रुसूख ही काम करता था, पर कैप्टन रशीद इसका कारण अपनी योग्यता ही समझते थे और उन्हें इस बात का संतोष था कि वे पूर्णतय: इस पद के योग्य हैं।

यह साप्ताहिक पत्र, जिस के सम्पादक बन कर वे आये थे, उन

अनगिनत सैनिक पत्र-पत्रिकाओं की भाँति न था जो द्वितीय महा युद्ध में बरसाती कुकरमुत्तों की भाँति उग आये थे। चालीस-पचास वर्ष पहले अफ़गानिस्तान के कबायली इलाके में लड़ने वाले सैनिकों के हितार्थ इसे स्थापित किया गया था और उस समय जब कैप्टन रशीद ने इसकी बागडोर अपने हाथ में सम्हाली, यह छः-सात भाषाओं में निकलता था।

साधारण समाचार-पत्रों तक सैनिकों की पहुँच नहीं होती। घर से सहस्रों योजन दूर, जंगलों, पहाड़ों, वीरानों और रेगिस्तानों में उन्हें लड़ना पड़ता है और यद्यपि उस समय भी उनके बेकार समय को खेल तमाशों से भरने का भरसक प्रयत्न किया जाता था, फिर भी किसी ऐसे ऑर्गन* (Organ) की आवश्यकता अनुभव की गई जो उन, लगभग अपढ़, सिपाहियों की उन घड़ियों को भर सके जो शारीरिक श्रम, खेल-कूद, गप-शप के बाद उन पर भारी बन जाती हैं; जब उन्हें घर की, बाल-बच्चों की (बाल-बच्चों से प्रिय खेत-खलिहानों की) याद सताती है; जब वे अपने ज़िले (और इस प्रकार अपने गाँव) के मौसम तथा फ़सलों की स्थिति, बीवी-बच्चों की ख़ैर-ख़बर, सगे-सम्बन्धियों, मित्र-स्नेहियों के सगाई-विवाह तथा जन्म-मरण के समाचार जानने के लिए आतुर हो उठते है। उनकी इसी आवश्यकता को किसी हद तक पूरा करने के लिए यह पत्र निकाला गया था और पहले पहल इसकी परिधि केवल दो पृष्ठों तक सीमित थी और इसे निकालने के लिए बहुत छोटा स्टाफ़ था।

यद्यपि प्रत्येक युद्ध के बाद इस स्टाफ़ में कुछ ट्रान्सलेटर-क्लर्कों की वृद्धि होती गई थी और व्यवस्थापक-अमला भी बहुत बड़ा हो गया था, परन्तु इसके सम्पादन और व्यवस्था का ढंग वही पचास वर्ष पुराना था।

---

*Organ—मुख-पत्र

७

पत्र का अधिकांश मसाला सरकार के इन्फ़रमेशन विभाग से सप्लाई होता था। उप-सम्पादक और प्रायः अंग्रेज़ी का टाइपिस्ट ही उसका सम्पादन कर लेता। यह मसाला टाइप हो जाता। एक-एक कापी सभी सेक्शनों में बँट जाती और उसका अनुवाद हो जाता। कोई भी ऐसी चीज़ दूसरे ऐडीशनों में न छप सकती जो अँग्रेज़ी में न छपती हो। गप-शप और लतीफ़े भी पहले अँग्रेज़ी ही में लिखे जाते और फिर अँग्रेज़ी से अनूदित होते। दूसरे संस्करण सैनिकों के लिए होते और अँग्रेज़ी का उनके अफ़सरों के लिए, ताकि वे देख सकें कि पत्र में कोई ऐसी वैसी विद्रोहात्मक अथवा राजनीतिक चीज़ तो नहीं छपती। लेखों और उन के शीर्षकों तक में कोई परिवर्तन न किया जाता।

कैप्टन रशीद ने चार्ज सम्हालते ही इस पत्र को एक जरनलिस्ट की आँखों से देखा। उनकी भवें तन गईं, ओठ बिगड़ गये—अतीव उपेक्षा से पत्र को मेज़ पर पटकते हुए उन्होंने कहा—'रब्बिश'! (Rubbish) और एक सप्ताह के अन्दर-अन्दर उन्होंने समाचार-पत्र की मुर्दा नसों में नये प्राण डालने की स्कीम बना ली।

हैड आफ़िस में उनके अफ़सरों ने शोर मचाया कि फ़ाइनान्स (Finance) वाले इस स्कीम को कैसे स्वीकार करेंगे? आधी शताब्दी से जो पत्र बड़े आराम से चलता आया है, उसमें इतने बड़े परिवर्तन पर वे किस प्रकार चुप रहेंगे? इस स्कीम को मान लेना तो पहले को अफ़सरों मूर्ख मान लेने के बराबर होगा...आदि.... आदि.....

लेकिन कैप्टन रशीद इस बहस के लिए पूरे तौर पर तैयार होकर गये थे। उन्होंने बड़े धैर्य्य के साथ पहले इस पत्र के महत्व का ज़िक्र किया, "यह भारतीय सेना का एक-मात्र ऑर्गन है," उन्होंने कहा, "इसके द्वारा न केवल हम सैनिकों को अपनी नीति के अनुसार ढाल

सकते हैं, बल्कि उनकी एक बड़ी ज़रूरत को पूरा करते हैं।" फिर उन्होंने कहा कि आज के भारतीय सैनिक पचास वर्ष पहले के सैनिकों से राजनीतिक तौर पर कहीं अधिक जाग्रत हैं, इसलिए अख़बार को और भी दानाई से निकालने की ज़रूरत है।" इसके बाद उन्होंने इस बात की शिकायत की कि इतने महत्व-पूर्ण अख़बार को इतने अर्से से केवल क्लर्क ही निकालते रहे हैं, जिन्हें जरनलिज़्म का—जरनलिज़्म दूर रहा—अनुवाद-कला तक का कोई अनुभव नहीं। उन्होंने उर्दू के संस्करण से अनुवाद के कुछ नमूने दिखाये कि किस प्रकार अनुवादक मक्खी पर मक्खी मार कर पत्र का सत्यानाश कर रहे हैं। फिर उन्होंने एक सर्वथा नयी युक्ति पेश की, "मैं अँग्रेज़ी का एडीशन देख सकता हूँ" उन्होंने कहा, "उर्दू का भी देख सकता हूँ, लेकिन हिन्दी, गुरमुखी, तामिल, तेलगू और मराठी का तो नहीं। साठ-साठ रुपया पाने वाले क्लर्कों के हाथ में ये एडीशन छोड़ दिये गये हैं। कौन जाने वे इनमें क्या छापते हैं, क्या नहीं छापते। हर एडीशन का एडीटर एक ज़िम्मेदार जरनलिस्ट होना चाहिए, जो न सिर्फ़ अख़बार के हर मज़मून* पर नज़र रखे, बल्कि इसकी एडीटिंग में भी जंग की नयी ज़रूरतों के मुताबिक़ तब्दीली करता रहे।"

उनकी बात मान ली गई। पत्र के प्रत्येक संस्करण के लिए अढ़ाई अढ़ाई सौ रुपये के वेतन पर एक-एक सब-एडीटर और अँग्रेज़ी के लिए एक नया अनुभवी उप-सम्पादक रखने की स्कीम बनी और उसे फ़ाइनान्स डिपार्टमेंट को भेज दिया गया।

फ़ाइनान्स डिपार्टमेंट ने पहले पहल केवल चार सेक्शनों के लिए सब-एडीटर रखने की स्वीकृति दी और कहा कि यदि इससे समाचार-

---

*लेख

पत्र में कोई विशेष अन्तर दिखाई दिया तो शेष दो सेक्शनों के लिए भी सब-एडीटर रखने की स्वीकृति दे दी जायगी।

सर्दियों के दिन थे और यद्यपि आठ बज चुके थे, किन्तु धूप जैसे इस शीत में जागते हुए डर रही थी और इर्द-गिर्द की कोठियों के वासियों की भाँति कहीं पूरब की सेज पर लिहाफ़ ओढ़े सो रही थी। आकाश की निद्रालस आँखों में अभी रात की मस्ती थी। किन्तु धरती जाग चुकी थी। दोनों ओर की कोठियों में यूकलिप्टस, जामुन, शिरीष आम, नीम के वृहत् पेड़ों की अपेक्षाकृत नंगी डालियाँ आकाश की निंदासी आँखों को चूम रही थीं। ठंडी हवा चल रही थी और पेड़ों के पत्ते सड़क और फ़ुट-पाथों पर उड़ रहे थे।

कैप्टन रशीद की आँखें न उस समय आकाश का खुमार देख रही थीं, न धरती की मस्ती; वे तो अपने सामने अपने पत्र को चोला बदलते हुए देख रहे थे। उनके समक्ष उनका पत्र साँप की भाँति अपनी पुरानी केंचली उतार कर नयी बदल रहा था। अपने दोनों हाथ पतलून की जेबों में डाले वे अपने मस्तिष्क में उन चार आसामियों के चुनाव हेतु आने वाले प्रार्थियों से इन्टरव्यू कर रहे थे।

आसामियाँ यद्यपि चार ही थीं, किन्तु उनके लिए (युद्ध काल में बेकारों का अभाव होने के बावजूद) अगनित आवेदन-पत्र आये थे। कैप्टन रशीद ने उनमें से केवल बीस को इन्टरव्यू के लिए बुलाया था। हर सेक्शन के लिए उन्होंने पाँच-पाँच दरख़्वास्तें चुन ली थीं। इन प्रार्थियों में से कुछ प्रतिष्ठित-पत्रों में काम करते थे। उनकी योग्यता और अनुभव से वे स्वयं परिचित थे। यही कारण था कि चुनाव में उन्हें कठिनाई सी हो रही थी। कल्पना-ही-कल्पना में कभी इसको कभी उसको चुनते हुए वे दफ़्तर पहुँचे।

दफ्तर को झाड़-पोंछ कर चपड़ासी उनकी प्रतीक्षा में एक स्टूल पर बैठा था। उनके पहुँचते ही एक दम खड़े होकर उसने उन्हें फ़ौजी सलाम किया।

कैप्टन रशीद ने उसके सलाम का उत्तर नहीं दिया। अपने विचारों में मग्न वे कुर्सी पर जा बैठे। कुर्सी को छूते ही जैसे वे चौंके और उन्होंने घंटी पर हाथ मारा—'टन' !

मानो रबड़ के तार से खिंचा हुआ चपड़ासी आ उपस्थित हुआ।

"पंडित जी को सलाम दो !" पत्र का ताज़ा एडीशन उठाते हुए कैप्टन रशीद ने आदेश दिया।

अपने अफ़सर को समय से पहले आते देख कर जो क्लर्क उससे भी पहले आने लगे थे, उनमें पंडित किरपा राम सब से आगे थे। पचपन वर्ष की बेफ़िक्री और बेकारी के कारण मोटा थल-थल पिल-पिल शरीर, गंजा सिर और अगले दाँतों से वंचित मुंह—इस पत्र के दफ़्तर में वे एक नवयुवक क्लर्क के रूप में आये थे और समय समय पर हिन्दी, उर्दू, गुरमुखी तीनों सेक्शनों के ट्रांसलेटर और फिर इंचार्ज रह चुके थे अनुवाद कला में उन्हें योग्यता प्राप्त हो, यह बात न थी। योग्यता प्राप्त होना तो दूर रहा, वे तो इस कला से सर्वथा अनभिज्ञ थे, किन्तु उन्हें उस कला में पूरी-पूरी निपुणता प्राप्त थी जो प्रायः सरकारी दफ़्तरों में एक क्लर्क को दूसरों से आगे निकल जाने में सहायता देती है। अनुवाद तो उनके दूसरे मंद-भाग्य साथी करते थे। उनका काम तो साहब के लिए टैक्सी, राशन, पेट्रोल, मुर्गे-मुर्गियों से लेकर साहब की मेम के लिए पाऊडर,रूज,क्रीम और ऐसी ही अनगिनत दूसरी चीजें जुटाना होता। सुबह आते समय और संध्या को जाते समय वे नियमित रूप से साहब को सलाम करते। जब साहब हेड आफ़िस जाते तो वे प्रायः उनकी अर्दल में जाते, नहीं तो कम-से-कम कार तक

छोड़ने ज़रूर जाते और जब साहब वापस आते तो वे उन्हें कार से लेने अथवा हैड आफ़िस का हाल-चाल जानने अवश्य पहुँचते। साहब की मुस्कान पर खीसें निपोर देना और परेशानी पर भवें चढ़ा लेना उन्हें खूब आता था। अपने इन्हीं गुणों की बदौलत वे धीरे-धीरे उन्नति पाते हुए सेक्शन के इंचार्ज हो गये थे। इससे पहले कि चपड़ासी उन्हें साहब का सलाम देने जाता, वे दाँत निकोसते हुए स्वयं साहब को सलाम करने आ पहुँचे।

साहब ने उनके सलाम का उत्तर ज़रा सा सिर हिला कर दिया। मुस्कान का उत्तर देना शायद उसने उचित नहीं समझा।

इस नये देसी साहब के मनोविज्ञान को समझने में सर्वथा असफल रहने के कारण पंडित जी केवल खिन्नता से हँस कर खड़े रह गये।

"आज कितने लोग इंटरव्यू के लिए आ रहे हैं?"

पंडित जी फ़ाइल लेने भागे।

कैप्टन रशीद ने अखबार का ताज़ा एडीशन उठाया। पहले पृष्ठ पर ही टाइप की इतनी ग़लतियाँ थीं कि उनका ख़ून खौल उठा। यह देख वे प्रेस के मालिक को फ़ोन करने ही वाले थे कि टेलीफ़ोन की घण्टी बजी।

"हैलो!" चोंगा उठाते हुए उन्होंने कुछ असंतोष के स्वर में कहा।

दूसरी ओर उनके पिता थे।

"छद्दू", उनके स्वर को पहचान कर ख़ान बहादुर बोले, "तुमसे शायद तुम्हारी अम्मा ने कहा होगा, बेटा ज़रा हनीफ़ का ख्याल रखना। कल वह मेरे पास आया था। वह अपना रिश्तेदार भी है और फिर........"

"लेकिन अब्बा जान, आप क्या कहते हैं?" कैप्टन रशीद ने अपने

पिता की बात काट कर कहा, "हनीफ़ तो इस पोस्ट के बिल्कुल नाक़ाबिल है।"

"नाक़ाबिल", दूसरी ओर से ख़ान बहादुर बोले, "बी० ए० आनर्स है।"

"बी० ए० आनर्स होने से कोई जरनलिस्ट तो नहीं बन जाता अब्बा जान! मुझे तजरुबेकार जरनलिस्टों की ज़रूरत है जो अख़बार की काया पलट दें। हनीफ़ को तो जरनलिज़्म की ए० बी० सी० का भी इल्म नहीं।"

"अरे भाई सीख लेगा। कौन सी चीज़ है जो मेहनती आदमी..."

अपने पिता के हठ पर कैप्टन रशीद की भृकुटी तन गई। पर बड़ी कठिनाई से अपने आप पर संयम रख, पिता की बात काटते हुए उन्होंने कहा, "यह अख़बार का दफ़्तर है अब्बा जान, जरनलिज़्म का स्कूल नहीं। मैं नाक़ाबिल एडीटर ले लूंगा तो अफ़सर क्या कहेंगे! हनीफ़ दूसरों के साथ किस प्रकार अपनी चाल क़ायम रख सकेगा। जिन ट्रांसलेटरों का उसे अफ़सर बनाया जायगा, वे अपने दिल में क्या ख़याल करेंगे, सभी हँसेंगे!"

"सरकार के दफ़्तरों में एक से एक बढ़ कर बेवक़ूफ़ भरे पड़े हैं।" अनुभवी ख़ान बहादुर बोले।

"आप मुझसे बददयानती करने को कहते हैं!" कैप्टन रशीद गरजे। उनकी आवाज़ इतनी ऊँची उठ गई कि परले कमरे में क्लर्क दम साध कर बैठ गये।

"तुम तो बेवक़ूफ़ हो!" और यह कह कर उनके पिता ने टेलीफ़ोन बन्द कर दिया।

ठक से चोंगे को फ़ोन पर रख कर कैप्टन रशीद उठे। इन्टरव्यू में आने वाले प्रार्थियों की फ़ाइल उनके सामने खोल कर पंडित किरपाराम

खड़े मुस्करा रहे थे। कैप्टन रशीद ने अंगारा सी आँखों से उनकी ओर देखा और मुस्कान मानो पंडित जी के ओठों पर पीली पड़ गई।

"तो...तो...मैं..."

"आप जा सकते हैं।"

और यह कह कर ट्यूनिक के दोनों कालरों को दोनों हाथों से पकड़े कैप्टन रशीद कमरे में चक्कर लगाने लगे।

घूमते-घूमते उनके सामने प्रेस के मालिक ख़ान बहादुर और अपने ख़ान बहादुर पिता का चित्र खिंच गया और अपने ख़ान बहादुर पिता का सब क्रोध प्रेस के मालिक ख़ान बहादुर पर निकालने के लिए, जो पत्र की निकृष्टतम् छपाई करता था, उन्होंने फिर चोंगा उठाया, लेकिन तभी बाहर मेजर सलीम की मोटर आकर रुकी और दूसरे क्षण मेजर सलीम अपनी अलसाई हुई मुस्कान ओठों पर लिये एक युवक के साथ अन्दर दाख़िल हुए।

कैप्टन रशीद ने चोंगा वहीं रख कर उन्हें फ़ौजी सलाम किया। यद्यपि मेजर सलीम से उनका सम्बन्ध लगभग मित्रों जैसा हो गया था, किन्तु कैप्टन रशीद सैनिक डिसिपलन के अनुसार उन्हें अब भी सलाम ही किया करते थे।

मेजर सलीम हँसे। "आप भी रशीद साहब बस....." और उन्होंने सलाम का जवाब देने के बदले हाथ बढ़ा दिया। "बैठिए, बैठिए!" उन्होंने अपनी अलसाई सी मुस्कान से कहा, "इतना तकल्लुफ़ न कीजिए।" और इससे पहले कि कैप्टन रशीद अपनी कुर्सी पर बैठते उन्होंने अपने साथी का परिचय देते हुए कहा—ये हैं मि० ज्योति स्वरूप भार्गव बी० ए०! हिन्दी के जाने-माने लेखक और

जरनलिस्ट हैं। उर्दू भी जानते हैं। कई अखबारों में काम कर चुके हैं और कई किताबें लिख चुके हैं। कुछ दिन हिन्दी एडीशन में ये आप की मदद करेंगे।" और मेजर साहब ने घण्टी बजाई और चपड़ासी से पंडित जी को सलाम देने के लिए कहा।

लेकिन पंडित जी तो मोटर देख कर स्वयं ही मेजर साहब को सलाम देने चले आ रहे थे।

"पंडित जी, ये हैं मिस्टर ज्योति स्वरूप भार्गव बी० ए०। मेजर साहब बोले। "ये कुछ दिन हिन्दी के काम में मदद देंगे।"

और उन्होंने श्री भार्गव से पंडित जी के साथ जाने को कहा।

जब दोनों चले गये तो मेजर सलीम बोले, "ये करनल चोपड़ा के आदमी हैं। आप किसी तरह इन्हें Accomodate कीजिए। आदमी लायक हैं, आपको किसी तरह की तकलीफ़ न होगी।"

"ये किस अख़बार में काम करते हैं?" कैप्टन रशीद ने पूछा।

"अभी तो ये बर्मा से भाग कर आये हैं। यहाँ एक फ़र्म में केनवेसर है, लेकिन वहाँ 'बर्मा-समाचार' नाम से एक अखबार निकाला करते थे।"

"लेकिन ट्रांसलेशन...."

"इन्होंने दो अँग्रेज़ी किताबों का हिन्दी में तरजुमा* किया है। करनल हरडन ने अँग्रेज़ी में 'पोल्ट्री फ़ार्म' के नाम से जो किताब लिखी है, इसका उल्था इन्होंने हिन्दी में किया है। आजकल हमारी फ़ौजों के सामने अंडे जुटाने का सवाल बुरी तरह पेश है। यूनिटों को अपने निजी मुर्गी ख़ाने खोलने के लिए कहा जा रहा है। आप करनल हरडन की किताब को अँग्रेज़ी में किस्तों से छापिए। उर्दू और हिन्दी में भार्गव साहब आप को मसाला तैयार कर देंगे।"

---

* अनुवाद

और जैसे एक बड़े बोझ को टाल कर मेजर सलीम कुर्सी पर पीछे को झुक गये और सिगार सुलगाने लगे। एक लम्बा कश खींच कर उन्होंने इतना और कहा, "यह किताब हमारे जवानों के बड़े काम की है, उनमें से ज़्यादातर किसान हैं और उनको जंग के बाद मुर्गियाँ पालने का कारबार करना पड़ेगा।"

कैप्टन रशीद चुप रह गये। उन्होंने एक प्रसिद्ध हिन्दी दैनिक के स्टाफ़ से एक अनुभवी पत्रकार को लेने की सोच रखी थी। उनके लिए वहाँ बैठना कठिन हो गया। वे स्वयं सिगरेट पीने के आदी न थे, किन्तु उन्होंने अफ़सरों और दूसरे विज़ेटरों की आवभगत के लिए केवेंडर का एक डिब्बा रख छोड़ा था। कभी-कभार स्वयं भी उनके साथ सुलगा लेते थे। उस समय उन्हें कुछ ऐसी घबराहट हुई कि उन्होंने उठ कर डिब्बे में से एक सिगरेट निकाला और उसे सुलगा लिया।

कुछ ही कश खींचने से उनका मुँह कड़ुवा हो गया। मेजर सलीम की आँख बचा कर उन्होंने सिगरेट खिड़की से बाहर फेंक दिया। उन का जी हो रहा था कि दोनों हाथ पतलून की जेब में डाल कमरे में तेज़ तेज़ चक्कर लगायें, लेकिन मेजर की उपस्थिति में उन्हें ऐसा करना अच्छा न लगा। वे फिर आकर कुर्सी पर बैठ गये और कुछ संकोच के साथ बोले।

"आप का ख़्याल है, ये साहब अख़बार में फ़िट कर जायँगे। जरनलिज़्म का मामूली तजरुबा† तो हमारे ट्रांसलेटरों को भी है। हम तो काबिल जरनलिस्ट चाहते हैं।"

मेजर सलीम ने जैसे उनकी बात नहीं सुनी। सिगार के एक दो कश खींच कर उन्होंने कहा।

"करनल चोपड़ा आपकी सिफ़ारिश कर रहे थे।"

---

† साधारण अनुभव

"मेरी !"

"वे कहते थे कि आप को मेजर की रैंक मिलनी चाहिए, क्योंकि आप से पहले इस अख़बार के जितने एडीटर रहे हैं, सभी मेजर थे।"

कैप्टन रशीद श्री भार्गव के सम्बन्ध में कुछ और पूछने जा रहे थे; कि चुप हो रहे और यह सुसमाचार सुना कर मेजर सलीम उठे और फिर जैसे उन्हें सहसा कोई बात याद आ गई हो, उन्होंने कहा, "आज तो मीटिंग है।"

"मीटिंग।"

ब्रिगेडियर कल फ्रण्ट से लौटे हैं, उसी सिलसिले में वे कुछ ज़रूरी बातें डिसकस्स (Discuss) करना चाहते हैं। चलिए मेरे साथ ही चलिए।"

"लेकिन इंटरव्यू......?"

"क्या वक्त दिया है इंटरव्यू का आप ने ?"

"ग्यारह से चार तक"।

"जब तक तो आप बीस बार लौट आयँगे।"

विवश होकर कैप्टन रशीद असिस्टेंट एडीटर लेफ़्टिनेट अलीगुल खाँ के कमरे में गये, "मुझे ज़रूरी तौर पर मीटिंग में जाना पड़ रहा है। इंटरव्यू के लिए जो साहब आयँ उन्हें बैठाइए। उनसे बात चीत कीजिए। मैं जल्दी आने की कोशिश करूँगा।

यह कह कर वे कार में मेजर साहब की बग़ल में जा बैठे।

शाम के साढ़े पाँच बजे उनकी कार हैड आफ़िस से वापस आई तो उनके साथ एक सिख सूबेदार साहब भी उतरे।

फ्रण्ट से आने के बाद ब्रिगेडियर साहब जो ज़रूरी बात उनको बताना चाहते थे, वह यह थी कि पत्र में बहुत से टेकनिकल शब्दों का

प्रयोग ग़लत होता है। उनका अनुवाद भी ग़लत होता है। बर्मा के मोर्चे पर जिस शब्द के लिए अनुवादक 'खन्दक' का प्रयोग करते हैं, उसके स्थान पर 'गन की चौकी' होना चाहिए, क्योंकि वहाँ खन्दक नाम की चीज़ नहीं। 'फ़ौक्स होल' की जगह एक स्थल पर 'लूमड़ी की गुफा' अनुवाद हुआ है, हालांकि यह सैनिकों ही की गुफ़ा होती है। ऐसी बीसियों मिसालें अख़बारों में थीं। ब्रिगेडियर साहब ऐसे ग़लत अनुवाद पर बहुत लाल पीले हुए और उन्होंने कहा कि अख़बार के स्टाफ़ में कोई ऐसा फौज़ी अफ़सर अवश्य होना चाहिए, जिसे फ्रण्ट का पूरा अनुभव हो। ब्रिगेडियर साहब की इस बात का सब अफ़सरों ने समर्थन किया और कहा कि वे तो स्वयं यही बात कहना चाहते थे और करनल चोपड़ा ने तो यह प्रस्ताव भी किया कि नयी स्कीम के अधीन एक फौज़ी अफ़सर अख़बार में ले लिया जाय।

मीटिंग के बाद जब ब्रिगेडियर साहब ने कैप्टन रशीद को अपने कमरे में बुलाया तो उन्होंने उनका परिचय एक सिख सूबेदार साहब से कराया, "अख़बार के स्टाफ़ पर एक फ़ौज़ी अफ़सर का होना ज़रूरी है।" उन्होंने कहा, "सूबेदार पुराने अफ़सर हैं, जंगी शब्दों से पूरी तरह परिचित हैं, इन्हें गुरमुखी का चार्ज दीजिए।'

और उन्होंने सूबेदार साहब को कैप्टन रशीद के साथ जाने की आज्ञा दी। एक फौजी सलाम ठोंक कर सूबेदार साहब कैप्टन रशीद के साथ हो लिये।

"बादशाहो मैंनूं तो जरलिज्म-वरलिज्म दा कोई तजरबा नेईं" कार में सूबेदार साहब कैप्टन रशीद की बग़ल में बैठे बता रहे थे, "मैं ब्रिगेडियर साब नाल बहुत पहले कम्म करदा रिहा हां, ते ओह मेरे ते बड़े मेहरबान ने। मैं उन्हां नूं किहा सी कि साब मैनूं कोई होर नौकरी दे दे। मैं कदी अख़बारां दी शक्ल तक नईं डिट्ठी कम्म करना तां दूर

रिश्रा, लेकिन ब्रिगेडियर साब ने किहा, 'वैल सूबेदार तुम कोशिश करो, कोई मुश्किल नेई । मैं एडीटर नूं आख दियांगा कि ओह तैनूं सिखा देवे । मैं चाहनां हाँ कि मिलिट्री दा इक आदमी अख़बार विच्च ज़रूर होवे, जिस नूं बाकायदा लड़ाई दा तजरबा होवे ।''

"आप किस फ्रण्ट पर हो आये हैं ?" कैप्टन रशीद ने पूछा ।

और भोले भाले सूबेदार साहब ने बताया

"बाश्शाहो कुत्ते दी मौत मरना होंदा ते एथे आवन दी की लोड़ सी । मैं बदकिस्मती नाल इंजिनीयर कोर विच्च भरती हो गया सी, ते तजरबा मैनूं कक्ख ना होया सी । साडी कोर कुछ दिनां तक वर्मा फ्रण्ट जान वाली ऐ । मैं साब नूं आखिया, 'भई जे मेहरबानी करनी एं ते हुन कर । पिच्छे मेरे बाल अयाने ने ते उन्हां नूं देखन वाला कोई नहीं । जे असां फ्रण्ट नूं टुर गये ते फेर तेरी मेहरबानी किस दिन कम्म आऊ । साब मेरे ते खुश ए । मेरी हालत ते ओहनूं तरस आ गिया ते ओस मैनूं एथे घल्ल दित्ता । मैं कम्म सिखन दी पूरी कोशिश कराँगा । जे मैं एथे कामयाब हो गया ते साब ने मेरे नाल वादा कीता है कि मेरे लई तगमे दी सिफ़ारश करेगा ।"*

---

‡ बादशाहो, मुझे जरनलिज़्म आदि का कोई अनुभव नहीं । मैं बहुत पहले ब्रिगेडियर साहब के साथ काम करता रहा हूँ और वे मुझ पर बड़े कृपालु हैं । मैंने उनसे कहा था, कि साहब मुझे कोई दूसरी नौकरी दे दो । मैंने कभी अखबार की शक्ल तक नहीं देखी, उसमें काम करना तो दूर रहा । लेकिन ब्रिगेडियर साहब ने कहा, वेल सूबेदार, तुम कोशिश करो, कोई मुश्किल नहीं । मैं एडीटर से कह दूँगा कि वह तुझे सिखा दे । मैं चाहता हूँ कि फ़ौज का एक आदमी अखबार में जरूर हो जिस को लड़ाई का बाक़ायदा तजरुबा हो ।

* बादशाहो, यदि (फ्रण्ट पर) कुत्ते की मौत मरना होता, तो यहाँ आने की क्या आवश्यकता थी । मैं दुर्भाग्य वश इञ्जनीयर-कोर में भरती हो गया था । और अनुभव मुझे तृण-मात्र भी न हुआ था । हमारी कोर कुछ ही दिनों में बर्मा फ्रण्ट पर

दफ्तर में जाकर मेज़ पर बैठते ही कैप्टन रशीद ने घण्टी पर हाथ मारा।

"पंडित किरपाराम को सलाम दो!" उन्होंने चपड़ासी को आज्ञा दी।

लेकिन पंडित जी स्वयं साहब को सलाम देने और हैड आफ़िस का हाल चाल पूछने आ रहे थे। मुस्कराते हुए उन्होंने साहब का हुक्म पूछा।

पिछले तीन महीने में पहली बार कैप्टन रशीद ने पंडित जी की मुस्कान का उत्तर दिया। कुछ हकलाते हुए उन्होंने कहा, "सूबेदार साहब ब्रिगेडियर के आदमी हैं। ये गुरमुखी के सब-एडीटर होंगे। ब्रिगेडियर साहब चाहते हैं कि अख़बार के स्टाफ़ पर एक फ़ौजी अफ़सर होना चाहिए।" (यहाँ उन्होंने वे सब युक्तियाँ दोहराईं जो ब्रिगेडियर ने मीटिंग में दी थीं) "इसलिए गुरमुखी के ट्रांसलेटरों से कह दें कि वे इनकी मदद करें और कोई तकलीफ़ न दें।"

"अजी आप चिन्ता न करें, सब ठीक हो जायगा।" पंडित जी ने आत्म-विश्वास से हँसते हुए कहा, "जब तक मैं हूँ, किसी अफ़सर को कोई कष्ट नहीं हो सकता। जिस तरह आप चाहते हैं, वैसा ही होगा।"

और जब वे सूबेदार साहब को साथ लिए हुए कैप्टन रशीद के

जाने वाली है। मैंने साहब से कहा कि यदि कृपा करनी हो तो अब कर। मेरे छोटे-छोटे बच्चे हैं और मेरे सिवा उन्हें देखने वाला कोई नहीं। यदि हम फ्रण्ट को ही चले गये तो तुम्हारी कृपा किस दिन काम आयगी। साहब मुझ पर प्रसन्न है। मेरी स्थिति पर उसे तरस हो आया और उसने मुझे आप के साथ भेज दिया। मैं काम सीखने की पूरी कोशिश करूँगा, यदि मैं यहाँ सफल हो गया तो साहब ने मुझे बचन दिया है कि वह मेरे लिए पदक की सिफ़ारिश करेगा।

कमरे से बाहर निकले तो उनके ओंठों पर मुस्कराहट और भी फैल गई।

उनके बाहर जाते ही कैप्टन रशीद ने फिर घंटी पर हाथ मारा।

"लेफ़्टिनेंट अली को सलाम दो।"

लेफ़्टिनेंट के आने पर उन्होंने पूछा, "मेरा पैग़ाम मिल गया था।"

"जी"

"इण्टरव्यू ले लिया ?"

"हिन्दी और गुरमुखी के उम्मीदवारों का इण्टरव्यू हो गया है। बाक़ी को आपके टैलीफ़ोन के मुताबिक कल आने के लिए कह दिया है।"

"आप उन्हें भी निबटा लेते। उम्मीदवारों का चुनाव तो लगभग हो गया है।"

अँग्रेज़ी के लिए कौन आ रहा है ?"

"डायरेक्टर-जनरल का कोई आदमी है। ब्रिगेडियर कह रहे थे, डायरेक्टर अँग्रेज़ी का असिसटेंट बहुत लायक चाहते हैं, क्योंकि उसी से बाकी सब एडीशनों का पेट भरता है। शायद कोई आदमी हैड आफ़िस से आये।"

"और उर्दू ?"

"उसके लिए भी चुनाव हो गया समझिए।"

यह कह कर उन्होंने फ़ाइल उठाई और काम में लग गये।

लेफ्टिनेंट अलीगुल खाँ अपने कमरे में चले गये।

कैप्टन रशीद ने फ़ाइल अपने सामने रख तो ली, लेकिन हस्ताक्षर वे एक काग़ज पर भी न कर सके। फ़ाइल को एक ओर हटा कर और ट्यूनिक के कालरों को दोनों हाथों से पकड़े वे कमरे में घूमने लगे।

सात बज चुके थे। चपड़ासी ने झिझकते हुए भीतर कमरे में झाँक कर देखा—कैप्टन रशीद उसी तरह ट्यूनिक के कालरों को थामे सर झुकाये कमरे में चक्कर लगा रहे थे।

दूसरी सुबह जब पंडित किरपाराम साहब को सलाम देने पहुँचे तो उन्होंने कैप्टन रशीद के बराबर की कुर्सी पर एक नवयुवक को बैठे देखा—"यह मिस्टर हनीफ़ बी० ए० ग्रानर्स हैं", उसका परिचय देते हुए उन्होंने पंडित जी से कहा, "ये उर्दू सेक्शन का काम सम्हालेंगे।"

पंडित जी ने खीसें निपोरते हुए मिस्टर हनीफ़ को सलाम किया ग्रौर उन्हें साथ ले चले।

चलते समय कैप्टन रशीद के ये शब्द उनके कान में पड़े:

"ज़रा ट्रांसलेटरों से कह दीजिएगा, इन्हें काम सीखने में मदद दें।"

बम्बई जून १९४५

The book Read by
Prithvi Nath Bangroo

"फ़लों"

जून का दूसरा सप्ताह था, जब कविराज ने शिमला जाने की तैयारी की और चेतन से कहा कि वह भी तैयार होकर उनके दवाखाने पहुँच जाय।

चेतन को तैयारी हो कौन सी करनी थी। विवाह में आई नर्म-गर्म रज़ाई-दुलाई उसके पास थी ही। किसी प्रकार जोड़-तोड़ कर खादी के दो पायजामे और दो कमीज़ें उसने सिलवा लीं। उसके पास कोट का सर्वथा अभाव था, इसलिए उसने अपने पिता का वही पुराना सरकारी ओवर कोट (जिसे भाई साहब क़ाफ़ी अर्से तक पहन चुके थे) साथ ले लिया। उन दिनों यह नियम था कि तीन वर्ष बाद स्टेशन मास्टर को नया कोट मिल जाता था और पुराना उसी का हो जाता था। यह कोट पिता के पास अपनी अवधि समाप्त कर भाई साहब के पास आ गया था और जब वे तीन-चार वर्ष तक उसका सुख ले चुके तो उन्होंने बड़ी कृपा कर चेतन को दे दिया था। चेतन ने उसे फ़िट

करवा लिया था, पर नयी काट के बावजूद वह किसी कबाड़ी की दूकान से ख़रीदा हुआ दिखाई देता था। इतने पर भी जब चेतन नये धुले कपड़ों पर उसे पहनता तो उसके लम्बे घुँघराले बालों और खुले गले के साथ वह कुछ बुरा न लगता।

चेतन के लिए शिमला जाना विलायत जाने से कम महत्व न रखता था। उसका उल्लास अंतर में समा न पाता था। आग उगलते मौसम में तेरह तेरह घण्टे काम करने वाले जूनियर-सम्पादक के लिए, गर्मियों में शिमले के आनन्द की कल्पना, स्वप्न-सुख से कम न थी।

गाड़ी शिमले की ओर जा रही थी। कविराज, उनकी पत्नी और उनके बच्चे इंटर में बैठे थे और चेतन, कविराज के क्लर्क जयदेव, नौकर यादराम और उसकी पत्नी मन्नी के साथ थर्ड में।

वह इतना प्रसन्न था कि डिब्बे में सोने के लिए यथेष्ट स्थान होने पर भी उसे नींद न आ रही थी। अमृतसर के स्टेशन पर उनके साथ उसके नगर का एक युवक आ बैठा। चेतन को पहचान कर उसने 'नमस्ते' की। चेतन उसे पहचान तो न पाया पर जब उसे ज्ञात हुआ कि वह जालन्धर में उसके मुहल्ले के निकट ही का रहने वाला है तो उसने बड़े गर्वस्फीत स्वर में उसे बताया कि वह स्वास्थ्य सुधारने के लिए शिमला जा रहा है और उससे यह प्रार्थना भी की कि यदि कष्ट न हो तो उनके घर जाकर वह चेतन की माँ और छोटे भाई नित्यानन्द को उसकी कुशल-क्षेम का समाचार अवश्य दे दे। "कहना," चेतन ने उससे कहा, "कि चेतन शिमला जाते हुए गाड़ी में मिला था। वह तीन-चार महीने वहाँ रहेगा और स्वास्थ्य ठीक होने पर लौटेगा।"

यह कह कर वह साथी के चेहरे पर ईर्षा-मिश्रित-आदर का भाव

टटोलने लगा।

गाड़ी लगभग रात के एक बजे जालन्धर पहुँची। यादराम अपनी छः फुट लम्बी सुगठित युवा देह लिये नंगी सीट पर ही सो गया था। उसकी पत्नी ज़रा सा घूँघट खींच कर बैठी-बैठी ही ऊँघ रही थी, पर चेतन की आँखों में नींद न थी। उसने खिड़की से सिर निकाल कर अपने चिर-परिचित स्टेशन को देखा। इधर उधर निगाह दौड़ाई कि यदि कोई परिचित टिकट-चेकर नज़र आ जाय तो उसे अपने शिमला जाने का समाचार दे, किन्तु दूर तक देखने पर भी उसे कोई परिचित टिकट-चेकर न मिला।

उनींदी आँखें लिये, बाहर प्लेटफ़ार्म ही पर मेज़ कुर्सियाँ सजाये कुछ बाबू अपने काम में निमग्न थे। उनके लिए जैसे गाड़ियों का आना जाना, मुसाफ़िरों का चढ़ना-उतरना, इंजनों की चीखें, गार्डों की सीटियाँ कुछ भी महत्व न रखती थीं। संसार के कोलाहल में रहते हुए भी उससे दूर रहने वाले योगियों की भाँति वे अपनी साधना में रत थे। चेतन ने जैसे दया से प्लावित होकर उनकी ओर देखा। उन्हें क्या मालूम कि जब वे इस ऊमस में निचुड़ते हुए कपड़ों के साथ मेज़ों पर झुके हुए हैं, उनके पास ही खड़ी गाड़ी में बैठा वह युवक शिमले की ठंडी हवाओं का आनन्द लूटने जा रहा है।

चेतन के मन में आया कि एक बार उतर कर स्टेशन पर टहले, ज़रा प्लेटफ़ार्म के बाहर जाय, हो सके तो स्टेशन के चिर-परिचित कुएँ का ठंडा पानी ही पिये। पर उसे याद आया कि रात आधी से ज़्यादा जा चुकी है, कुआँ खाली होगा और सबील पर पानी पिलाने वाला कहीं मीठी या कड़ुवी नींद के मज़े ले रहा होगा।

गाड़ी चल पड़ी। चेतन ने बाहर से दृष्टि हटा ली। यादराम की पत्नी यद्यपि अब भी ऊँघ रही थी पर उसके चेहरे का घूँघट खुला था।

चेतन ने पहले दबी और फिर खुली आँखों से उसके मुख की ओर देखा। लेकिन ऐसा करने से पहले उसने अपने सामने एक पुस्तक खोल कर रख ली।

शिमला चलने से पहले चेतन ने कविराज को एक तरह से विवश कर दिया था कि उसे साथ ले चलने से पहले वे उसे कोई-न-कोई काम बता दें। उसके स्वाभिमान को यह स्वीकार न था कि वह उनके सिर पर बोझ बन कर जाय।

उसके मन में स्वयं ही यह बात पैदा हुई अथवा कविराज के जीवन की घटनाएँ सुन कर उसे अपने स्वाभिमान का ख़याल हो आया, इसका ठीक ठीक निश्चय तो नहीं किया जा सकता, पर शिमला ले चलने के प्रस्ताव को सुन कर और यह जान कर कि उसे वहाँ काम अधिक न करना होगा, उसने कृतज्ञता का भाव प्रकट किया था तो कविराज जी ने बातों बातों में अपने जीवन के आरम्भिक संघर्ष की एक घटना उसे सुनाई थी—"मेरे एक मित्र ने मेरी आर्थिक सहायता की थी," उन्होंने कहा, "पर उस समय मैं उनके रुपये वापस न दे सकता था, इसलिए मैंने साल भर तक किसी प्रकार की ट्यूशन-फ़ी लिये बिना उनके बच्चों को पढ़ाया।" वे अपनी रौ में इसी प्रकार की कई घटनाएँ सुना गये, जब अपने सहायकों से जो कुछ उन्होंने पाया, उससे कहीं अधिक उन्हें दिया। चेतन यद्यपि पहले भी इस बात पर ज़ोर देता था कि उसे काम बता दिया जाय पर यह सब सुनकर उसने बिना काम जाने, साथ जाने से इनकार कर दिया था।

तब कविराज ने, जैसे विवश होकर, उसे बताया था कि उनका विचार बच्चों के जन्म-मरण और लालन-पालन के सम्बन्ध में एक

पुस्तक लिखने का है। उन्होंने उसे अमरीका की एक पत्रिका भी दिखाई थी और कहा था कि वह पंजाब-पब्लिक लायब्रेरी में जाकर देख ले। यदि इस विषय पर कुछ पुस्तकें मिल जायँ तो वे तत्काल लायब्रेरी के सदस्य बन जायँगे। चेतन उनकी बात समझ गया था और उनकी सहृदयता का बदला देने के लिए उसने मन-ही-मन इस विषय पर उन्हें एक बड़ी अच्छी पुस्तक लिख देने का निश्चय भी कर लिया था।

बातों बातों में कविराज जी ने उसे समझा दिया था कि यह पुस्तक उनके नाम से छपेगी। उसमें बच्चों की समस्त व्याधियों के सम्बन्ध में प्रारम्भिक ज्ञान संकलित होगा और पाठकों को परामर्श दिया जायगा कि पेचीदगी हो तो तत्काल किसी प्रसिद्ध वैद्य या डाक्टर से परामर्श लेना चाहिए।

चेतन लायब्रेरी से पाँच पुस्तकें ले आया था। उसने अपने मन में पुस्तक का एक ढाँचा सा भी बना लिया था। उन्हीं पुस्तकों में से एक उसने उस समय अपने सामने खोल ली।

यादराम की पत्नी ने भी एक दो बार कनखियों से उसकी ओर देखा। चेतन को लगा जैसे उसके ओठों पर हल्की सी मुस्कान भी खेल रही है——ऐसी मुस्कान जिसका पता न लगता था कि ओठों पर है अथवा आँखों में! गेहुँआ रंग, चेहरे पर शीतला के हल्के-हल्के दाग़, पतला दुबला शरीर, दाँतों के मोतियों में मसी की लकीरें। वह सुन्दर न थी, पर उसकी आँखों और उसकी मुस्कान में कुछ ऐसा आकर्षण था कि चेतन पुस्तक पढ़ना छोड़ कर उसे देखने लगा और फिर उससे बातें करने लगा।

डिब्बे में यात्री बहुत न थे। जो थे भी, वे बेसुध मुँह बाये, सिर लटकाये बड़ी बड़ी विचित्र मुद्राएँ बनाये, नींद की गोद में जा पड़े थे। सामने की बर्थ के ऊपर, सामान रखने के स्थान पर, सोये हुए एक व्यक्ति की टाँग बेतरह लटक रही थी और चेतन को डर था कि तनिक पहलू बदला और वह नीचे आ रहेगा। उसके लटकते हुए पाँव के नीचे यादराम बेसुध सोया हुआ था। उसके हल्के-हल्के ख़र्राटे डिब्बे की निस्तब्धता भंग कर रहे थे। बात पहले मन्नी ही ने आरम्भ की।

"नींद नहीं आती बाबू जी?" अपनी मुस्कान को तनिक और ज्ञेय बनाते हुए उसने पूछा।

चेतन को उसकी मुस्कान भली लगी। उसमें सहानुभूति थी, सौहार्द था और उत्सुकता थी।

पुस्तक पर ही दृष्टि जमाये उसने फिर कनखियों से मन्नी की ओर देखा। "गाड़ी में मुझे नींद नहीं आया करती" उसने ज़रा सा हँस कर कहा।

मन्नी आधी लेटी, आधी बैठी थी। वह उठ कर बैठ गई और उसने चेतन के घर, माता-पिता, भाई-बहनों के सम्बन्ध में प्रश्न किये।

उसके प्रश्नों में, उसकी वाणी में, उसके नयनों की लालस-सालस मुस्कान में कुछ ऐसी स्निग्धता थी कि चेतन का शरीर गर्माने लगा। रात की उस नीरवता में, उस सोये-खोये से डिब्बे में उसे मन्नी बहुत ही प्यारी लगने लगी। बैठे-बैठे चेतन का शरीर अकड़ रहा था और उसने अपने पैर मन्नी की बर्थ पर थोड़े से पसार लिये।

"खुल कर पसार लीजिए बाबू जी," मन्नी ने बड़े प्यार से उसके पाँव को लगभग खींचते हुए कहा। साथ ही उसने अपने पाँव चेतन की बर्थ पर फैला दिये।

"बैठे-बैठे अकड़ जाते हैं," वह हँसी।

कुछ क्षण तक चेतन चुपचाप पुस्तक पढ़ता रहा। फिर उसने कनखियों से मन्नी के पैरों की ओर देखा—छोटे-छोटे प्यारे-प्यारे पैर—उंगलियों में रजत चुटकियाँ और छल्ले पड़े थे और टख़नों में कड़े तथा झाँझनें। उसके तलवों में जावर रचा था जिसका रंग मिट्टी और कीचड़ से मिल कर काला हो गया था।

"तुम अपने पाँव धोती नहीं, देखो काले हो रहे हैं।" उसने पहले उन्हें छूते और फिर उन पर हाथ फेरते हुए कहा।

"लाख धोती हूँ बाबू जी, पर सारा दिन घर का काम करना पड़ता है—चौका-बर्तन, झाड़ू-बुहारी—कहाँ तक साफ़ रह सकते हैं?" और उसने अपने हाथ दिखाये, जिनमें मेंहदी के लाल रंग पर काली धारियाँ उभर आयी थीं।

चेतन के जी में आया कि इन लाल काले हाथों को चूम ले, पर तभी यादराम ने करवट बदली। चेतन का हाथ फिर पुस्तक पर आ गया और दोनों के पाँव एक दूसरे से ज़रा फ़ासले पर हो गये।

किन्तु इस बार यादराम की पीठ उनकी ओर हो गई। तब मन्नी ने झिझकते झिझकते चेतन के पाँवों को छुआ और बोली, "आपके पैर भी तो काले हैं बाबू जी!"

"मेरे"—चेतन हँसा—"मुझे धोने का अवकाश ही कब मिलता है। घूमता मैं क्या कम हूँ! और फिर बूटों के नाम मेरे पास यही चप्पल है, ज़रा सा पानी या कीचड़ हो तो लिचलिचाने लगते हैं।"

मन्नी का लहँगा जो उसके टख़नों से ज़रा ऊँचा उठ गया था, दोनों बर्थों के मध्य लटक रहा था और टख़नों के ऊपर का गोरा-गोरा हिस्सा नज़र आ रहा था—गोरा-गोरा बादाम के से रंग का! चेतन का जी चाहता था कि पाँव पर हाथ फेरता फेरता ऊपर उन गोरी-गोरी बादामी पिंडलियों तक ले जाये; पर उसी समय गाड़ी किसी स्टेशन

पर रुकी। समुद्र के ज्वार में वहती हुई चीज़ें जैसे पानी के रेले से किनारे पर आ चढ़ती हैं, इसी प्रकार स्टेशन की भीड़ के सागर में से कुछ यात्री डिब्बे में चढ़ आये।

इनके आने, सामान रखने, बैठने या लेटने की व्यवस्था करने और अपनी अनगढ़, अनमंजी, पहाड़ी बोली में निरन्तर बोलते रहने से डिब्बे की निस्तब्धता भंग हो गई। यादराम पूर्ववत गहरी नींद में सोता रहा। सामने ऊपर की बर्थ पर सोने वाले ने टाँग ऊपर खींच ली और चादर से गर्दन तथा मुँह का पसीना पोंछते हुए परली तरफ़ को करवट ले ली। कुछ ऊँघते-ऊँघते गर्दनों के झटके से उठ बैठे; कुछ सोये-सोये उठे और एक अलस दृष्टि चारों ओर डाल कर फिर सो गये। एक ने डेढ़ पाव गर्म गर्म दूध पिया; एक लोटा लिये पानी को भागा।

तभी कोने में सोया हुआ एक व्यक्ति हड़बड़ा कर उठा।

"कौन स्टेशन है?" उसने भारी स्वर में एक नये यात्री से पूछा।

"अम्बाला!"

"अम्बाला!" उसने मुँह बा दिया। फिर साथ के व्यक्ति को झकझोर डाला। "अरे जल्दी उठो अम्बाला आ गया, गाड़ी चलने वाली है।"

साथी इस तरह उठा जैसे उसे बिजली का झटका लगा हो और जल्दी-जल्दी सामान समेट कर दोनों डिब्बे से उतर गये।

चेतन की दृष्टि आगन्तुकों पर जम गई। अपना सामान आदि सम्हाल कर वे लोग सामने की बर्थ पर डट गये थे। उनमें तीन स्त्रियाँ

थीं। पुरुषों के कपड़े उतने अच्छे न थे—टखनों से ऊँचे, तंग, मैले पायजामे; गबरून की कमीज़ें और उन पर पहाड़ी जाकेट! दोनों के माथों पर उस्तरे से बड़े चौड़े ख़त बने हुए थे, जिनकी नोकें उनकी गोल-गोल टोपियों में छिपी हुई थीं। उनकी चोटियाँ चूहों की दुमों की तरह टोपियों के नीचे, गर्दन के पिछली ओर, लटक रही थीं। स्त्रियों के कपड़े कुछ साफ़ और भड़कीले थे। दो युवा थीं और एक अधेड़। किन्तु तीनों अपनी उम्र से कुछ ज़्यादा लगती थीं और संयम-हीनता ने उनके चेहरे पर ऐसी रेखाएँ बना दी थीं जो सस्ते पाउडर और रूज के बावजूद स्पष्ट दिखाई देती थीं।

जब गाड़ी चल पड़ी और सब लोग जम कर बैठ गये तो एक पहाड़ी युवक ने जाकेट की जेब से सिगरेट की डिबिया निकाली और एक-एक सिगरेट सब को बाँट दिया। क्षण भर बाद सब बड़े मजे से सिगरेट पीने लगे। चेतन चकित सा उन स्त्रियों की ओर देखता रह गया। वे इतने सहज-सरल भाव से सिगरेट पी रहीं थीं कि इस कला में पूर्णत सिद्धहस्त दिखाई देती थीं। बड़े संतोष से सिगरेट पीती हुई वे मज़े-मज़े धुएँ के नन्हे मरगोले बना रही थीं।

चेतन स्वयं सिगरेट न पीता था। सिगरेट का धुआँ उसके लिए असह्य था। कमरे में या उसके पास बैठा कोई सिगरेट पीता हो तो उसके सिर को चक्कर आने लगते थे। इस पर भी उसके मित्रों में ऐसे युवकों की कमी न थी, जिन्हें सिगरेट का व्यसन था। किन्तु स्त्रियाँ भी सिगरेट पीती हैं, यह उसके लिए सर्वथा नयी बात थी।

डिब्बे में अधिक लोगों के आ जाने से एक प्रकार की घुटन सी पैदा हो गई थी। गाड़ी पूरी रफ़्तार से जा रही थी। खुली खिड़कियों से गर्म हवा के फ़र्राटे आते थे, उसके साथ ही रास्ते की धूल और इंजन का धुआँ। यह धूल और धुआँ यात्रियों के पसीने की गंध से मिल कर

पहले ही कम गला न घोंट रहा था, इस पर ये पाँच व्यक्ति सिगरेट पीने लगे। चेतन का जी घबराने लगा। उसके सिर को हल्का-हल्का चक्कर आने लगा। पर वे पहाड़ी स्त्रियाँ अध-लेटी अध-बैठी, टाँगें फैलाये-सिकोड़े, जैसे डिब्बे के सारे वातावरण पर छाई हुई, इस इतमीनान से सिगरेट पी रही थीं कि चेतन के मन में आया, वह भी टाँगें पसार ले, शरीर की पीछे की ओर ढीला छोड़ दे और कहीं से सिगरेट लेकर उन्हीं की भाँति नाक और मुँह से छोटे-छोटे, नन्हे-नन्हे मरगोले छोड़े। पर इस बीच में उसका दम अधिक घुटने लगा, सिर अधिक चकराने लगा और उसने मुँह खिड़की से बाहर निकाल कर दो लम्बे-लम्बे साँस लिये।

आकाश में यद्यपि चाँद चमक रहा था और बादलों का भी कोई निशान न था, पर धूल का एक पर्दा सा धरती और आकाश के मध्य छाया हुआ था। ऐसा प्रतीत होता था जैसे चाँदनी को धरती तक पहुँचने में कष्ट हो रहा है। सकुची-सकुची वह छाई हुई थी। उसकी बाहें जैसे कुछ ही दूर तक फैल कर रह जाती थीं। अँधकार को भेदने में जैसे वे अशक्त थीं। इस धूल-धूसरित ज्योत्सना के बीचे दूर तक मटमैली धरती पड़ी थी। वर्षा अभी आरम्भ न हुई थी। मुरझाई-झुलसी हरियाली रात की इस मटमैली चाँदनी का अंग बन गई थी। पेड़ पौधे भागती छायाओं की भाँति, सामने से निकल जाते थे। गाड़ी के परले सिरे पर इंजन फिर धुआँ छोड़ने लगा। हल्की चाँदनी में धुएँ का काला बादल लपकते हुए अजगर की भाँति गाड़ी के ऐन ऊपर पीछे की ओर को बढ़ने लगा। उसकी जलती आँखों की चिनगारियाँ उस अँधेरे में चमक उठीं। चेतन ने जल्दी से अपना मुँह अन्दर कर लिया।

सब कुछ उसी तरह था। केवल मन्नी अपने पति की जाँघ पर

सिर रख कर सो गई थी। मुंह पर उसने घूँघट कर लिया था और लँहगे को टाँगों से अच्छी तरह लिपटा लिया था। उसके पैरों की अँगुलियों में पड़े हुए छल्ले और चुटकियाँ पूर्ववत चमक रही थीं।

उन चमकती हुई चुटकियों और छल्लों से ऊपर दृष्टि उठा कर चेतन ने फिर उन पहाड़ी स्त्रियों की ओर देखा। वे उसी प्रकार सिगरेट पी रही थीं। उनकी आँखों में चेतन को कुछ ऐसी संकोच-हीनता दिखाई दी जो उसने कभी जालन्धर के कोतवाली बाज़ार की वाराँगनाओं के नयनों में देखी थी। स्कूल से आते समय वह मुहल्ला मेंहद्रुआँ से आने के बदले कई बार पुलिस-लाइन को पार कर, सब्ज़ी मंडी के सामने से होता हुआ कोतवाली बाज़ार की ओर से आया करता था और कितनी देर तक खड़ा निर्निमेष उन काली-कुरूप स्त्रियों को देखता रहता था जो बड़ी बेबाकी से अपनी कोठड़ियों के आगे पाउडर थोपे बैठी रहतीं और गाँवों से नगर को आने वाले जाट जिन से अत्यन्त अश्लील और भद्दे मज़ाक किया करते थे। इन पहाड़ी स्त्रियों की आँखों में उन्हीं वेश्याओं जैसी बेबाकी थी।

तभी उसकी दृष्टि एक दूसरे व्यक्ति पर गई जो उन पहाड़ी स्त्रियों की ओर अत्यन्त भूखी निगाहों से देख रहा था। उसकी लोलुप-दृष्टि का अनुसरण करते हुए चेतन ने देखा कि उसके आकर्षण का केन्द्र वह स्त्री है जो उन तीनों में युवा और अपेक्षाकृत सुन्दर है। गुलाबी रंग का चड़ीदार रेशमी पायजामा, चमचमाती कमीज़, उस पर सुन्दर सरदई रंग की जाकेट और सिर पर रेशमी दुपट्टा ओढ़े, वह बिस्तर पर कुहनी रखे, हथेली पर सिर टिकाये, मंगल-द्वीप की तस्वीरी सम्राज्ञी की भाँति लेटी हुई थी। उसके कानों की रजत-बालियाँ और नाक की लौंग उसकी तीखी नुकीली आकृति पर बहुत भली लग रही थी। उसके गालों पर पाउडर की धूलि भी दूसरों की अपेक्षा कम थी—

कदाचित इसीलिए कि उसके मुख पर लकीरें दूसरों की अपेक्षा कम थीं। और वह व्यक्ति—अधेड़ उम्र, नुकीली खिचड़ी दाढ़ी, नाक के नीचे से कटी हुई शरयी मूँछें, नंगा सिर, खरखरे खिचड़ी बाल, आँखों में तीव्र-भूख तथा वासना की झलक !

जब स्त्रियों ने सिगरेट खत्म कर लिये और उनके शेष टुकड़े खिड़कियों के बाहर फेंक दिये तो वह उठ कर उनके पास जा बैठा। जेब से उसने सिगरेट की डिबिया निकाली, एक सिगरेट स्वयं लिया और डिबिया उन दो पहाड़ी युवकों की ओर बढ़ा दी। उन्होंने एक-एक सिगरेट ले लिया। तब उसने डिबिया दूसरी दोनों स्त्रियों की ओर बढ़ाई। उन्होंने भी एक-एक सिगरेट ले लिया। अन्त में उसने ओठों के कोनों को फैलाते और अपने पीले दाँत निकालते, सकुचाते-लजाते, डिबिया उस मंगल-द्वीप की सम्राज्ञी की ओर बढ़ाई। वह ठहरी मंगल-द्वीप की सम्राज्ञी ! उसी शाहाना अन्दाज़ से उसने सिर हिला दिया—"हम यह नहीं पीते !"

खिसियानी सी हँसी के साथ हाथ पीछे हटाते, दाँतों को कुछ और निपोरते हुए निराशा-मिश्रित स्वर से उस व्यक्ति ने पूछा—"तो...?"

"हम कैवेण्डर पीते हैं।"

"मेरे पास तो लाल बादशाह ही है !" और वह खिन्नता से हँसा।

तब उस स्त्री ने उसी राजसी ठाठ से अपने साथी को आदेश दिया कि वह कैवेण्डर की डिबिया निकाले।

पहाड़ी युवक ने कैवेण्डर की डिबिया निकाल कर उसे एक सिगरेट दिया। उसी तरह लेटे लेटे, बिना हाथ हिलाये उसने वह ओठों में थाम लिया और जब उसने दीयासलाई जलाई तो उसी तरह लेटे-लेटे, मुंह ज़रा सा आगे बढ़ा कर, उसे सुलगा भी लिया और उसी प्रकार मंगल-द्वीप की सम्राज्ञी बनी धुएँ के हल्के हल्के मरगोले छोड़ने लगी।

चेतन ने पुस्तक पढ़ने का प्रयास किया, पर उसे महसूस हो रहा था जैसे उसके सिर पर मनों बोझ लाद दिया गया हो। आँखों में नींद का नाम तक न था, पर उनमें कड़ुवाहट आ गई थी। भवों के ऊपर पीड़ा की एक रेखा दौड़ रही थी और शरीर क्लान्त प्रतीत हो रहा था। सामने की बर्थ पर टाँगें फैला कर वह पीछे को लेट गया और उसकी आँखें मात्र-कथन से बन्द हो गईं।

लेकिन उसे नींद न आई। पहाड़ी स्त्रियों की बातचीत, उस वासनासक्त व्यक्ति की खिसियानी हँसी और बैकग्राउंड में गाड़ी की खड़खड़ाहट—सब कुछ उसे सुनाई दे रहा था।

वह व्यक्ति मंगल-द्वीप की उस साम्राज्ञी से अत्यन्त भोंडे मज़ाक कर रहा था और उसी मुस्कान-मिश्रित-उपेक्षा से वह उसे टाले जा रही थी। तभी उसने एक दूसरी आवाज़ सुनी, "अरे पास जा बैठो, वहीं पड़े क्या 'हिंहिं' 'हिंहिं' कर रहे हो।"

भारी थकी आँखें खोल कर चेतन ने देखा कि एक और व्यक्ति जाग कर उठ बैठा है और पहले को बढ़ावा दे रहा है। लेकिन उसका साहस नहीं होता कि उस मानिनी के पास जा बैठे।

तभी गाड़ी एक स्टेशन पर रुकी। वह व्यक्ति उठ कर मिठाई ले आया और दोना लिये हुए उसके पास जा बैठा। अपने मैले, पीले दाँत निकालते हुए उसने एक हाथ से मिठाई का दोना उसकी ओर बढ़ाया और दूसरे से उसके दोनों घुटनों को लेकर अपनी बगल में भींचा और उसकी आँखों में वासना की ज्वाला लपलपाने लगी।

चेतन की अर्ध-निमीलित आँखें पूरी तरह खुल गईं।

मंगल-द्वीप की सम्राज्ञी ने ज़रा सी भवें सिकोड़ कर उस दोने की ओर देखा। फिर घृणा-मिश्रित-उपेक्षा से उस व्यक्ति की ओर और फिर सहसा बिस्तर पर कुहनी के बल उठते हुए, अपने घुटनों को उसके

बंधन से मुक्त करके उसने इस ज़ोर से खींच कर लात उस दोने पर दे मारी कि मिठाई उस व्यक्ति के मुँह पर उसकी मूर्खता के चिन्ह अँकित करती हुई खिड़की के बाहर जा पड़ी।

"वेश्याएँ हैं!" उस दूसरे व्यक्ति ने कहा, "खा कमा कर फ़र्लो* पर जा रही हैं।" और वह हँसा।

खिन्न सा होकर पहला व्यक्ति चेहरा पोंछता हुआ अपनी जगह पर जा बैठा। उसके नयनों की लपलपाती हुई वासना बुझते हुए अँगारों की भाँति मन्द पड़ गई।

चेतन ने आँखें बन्द कर लीं।

'फ़र्लो!'—कितना स्निग्ध, प्यारा शब्द है! जिस दिन उसे दफ़्तर से छुट्टी होती थी, बंगाली गली तो दूर, वह गणपत रोड तक की ओर न जाता था। यदि उसे अनारकली भी जाना होता तो चाहे उसे कितना घूम कर जाना पड़े, वह दफ़्तर को जाने वाली सड़क की ओर मुँह न करता। उन वेश्याओं के प्रति एक विचित्र सहानुभूति से उस का मन प्लावित हो उठा। साल भर के थके, टूटे, शिथिल अंग लेकर, अपने शरीरों को बेच कर, उन्हें भूखे, हिंस्र पशुओं की दया पर छोड़ने के बाद, ये बेचारी क्लान्ति की मारी, कुछ आराम करने जा रही हैं। और यह भूखा व्यक्ति......पाजी......! और एक नपुन्सक सा क्रोध उसके मस्तिष्क में अलाव की भाँति जलने लगा......। लेकिन उसके पलक भारी होते गये, उसके अंग शिथिल पड़ते गये और वह अलाव क्षण प्रति क्षण मंद पड़ता गया। उसका सिर खिड़की के साथ जा लगा, बाजू लटक गये और वह गहरी नींद सो गया।†

---

*फ़र्लो=(Furlough) छुट्टी। सैनिकों को काफ़ी दिन बाद जो घर जाने की छुट्टी दी जाती है। सेना ही से यह शब्द गाँवों में आया है।

† लेखक के उपन्यास 'गिरती दीवारें' से

—

टेबल लैंड

"आप ज़रा उदार विचारों के हैं, इसलिए मैंने यह पूछा है!" सेठ साहब ने कहा।

"जी, आप निश्चय रखें। यह सब मैं पंजाब के हिन्दू-शरणार्थियों ही को भेजूँगा।" सेठ साहब की आशंका के उत्तर में दीनानाथ बोला।

"एक कम्बल आप के विचार में कितने का आता है?" सेठ साहब ने पूछा।

"यों तो आप ऐसे सेठ को सौ रुपये का भी कम्बल शायद अच्छा न लगे," तनिक उत्साह पाकर दीनानाथ ने कहा, "लेकिन वे लोग तो मुसीबत के मारे हैं। नर्मी की अपेक्षा उन्हें गर्मी की अधिक आवश्यकता है। जब मैं इधर सेनेटोरियम ही में था तो वार्ड ब्वाय नारायण दस रुपये में कम्बल लाया था, उतना नर्म तो नहीं, पर गर्म खूब था।"

"तो तीन कम्बलों के पैसे आप मेरे नाम लिख लीजिए।"

तीन कम्बलों के—अर्थात् तीस रुपये !—प्रसन्नता से दीनानाथ का चेहरा खिल उठा।

सब से पहले जब उसने सेठ हीरामल वीरामल अडवानी के स्पेशल कॉटेज में जाने का निश्चय किया था तो उसका ख्याल था कि वे पाँच रुपये तो कम से कम देंगे ही और लिस्ट में सब से ऊपर पाँच रुपये देख कर दूसरे रोगी भी रुपया आठ आना दे ही देंगे। इस प्रकार वह दो चार कम्बलों के पैसे पंजाब के शरणार्थियों की सहायता के लिए भेज सकेगा। सेनेटोरियम के थोड़े से अनुभव ने उसे बता दिया था कि सैर-तमाशा या ह्विस्ट अथवा रम्मी ड्राइव हो तो रोगी खुले दिल से चंदा देते हैं (मेज़ों पर स्त्रियों के साथ बैठ कर खेल सकने का सुअवसर पाने की गर्ज़ से) लेकिन यदि किसी भले काम के लिए चंदा देने को कहा जाय तो कुछेक को छोड़ कर शेष सब बहाने बना देते हैं।

सेठ हीरामल धर्म-परायण, दानी आदमी थे। इसीलिए उसने लिस्ट में सबसे पहले उनका नाम रखा था। वे इतने रुपये दे देंगे, इस बात की उसने कल्पना भी न की थी। परन्तु जब सेठ साहब ने दस-दस के तीन नोट निकाल कर दीनानाथ के हाथ पर रख दिये तो उसने कापी पर सबसे पहले उनका नाम लिखते हुए कहा—आपसे मुझे ऐसी ही आशा थी। इसीलिए तो मैं सबसे पहले आपके पास आया।"

"कहिए, आपके भाई और दूसरे सगे-सम्बन्धी तो पाकिस्तान से आ गये ?" सेठ साहब ने पूछा।

"घर-बार छोड़ बेसरोसामानी की दशा में दिल्ली पहुँच गये हैं," दीनानाथ ने तनिक उदास होकर कहा—"घर दोनों जल गये और सामान लुट गया। इतना ग़नीमत है कि जानें बच गईं।"

"इस टी० बी० ने हमें तो कहीं का न रखा," सेठ हीरामल ने

खाँस कर और बलगम स्पिट्रून में थूक कर कहा—"नहीं तो पचास-सौ मुसलमानों को हम स्वयं अपने हाथ से यम-लोक पहुँचाते ।"

यह कहते हुए उन के म्रियमान, पीत, क्षीण मुख पर एक तिक्त मुस्कान फैल गई और इतनी बात-चीत ही से थक कर वे चारपाई पर लेट गये ।

सेठ साहब की यह भयानक आकाँक्षा पिछले कई दिनों से स्वयं दीनानाथ के मन में निरन्तर उठ रही थी । सेठ साहब तो कभी हिन्दू महासभा के प्रधान रहे थे, मुसलमानों को सदा से यवन और असुर समझते थे, पर दीनानाथ तो कभी हिन्दू-मुसलमान में कोई अन्तर न मानता था । वह पंजाबी था और पंजाबियों में, जहाँ तक रहन-सहन, खान-पान, वेश-भूषा और बोल-चाल का सम्बन्ध है, मुसलमान-हिन्दू में कोई विशेष अंतर न था । बम्बई में भी वह स्वतन्त्र रूप से फ़िल्म कम्पनियों में काम करता था और यद्यपि साम्प्रदायिकता के इस ज़माने में फ़िल्म कम्पनियों में भी यह बीमारी फैल गई थी, पर दीनानाथ के मित्रों में मुसलमानों की संख्या कम न थी । उसे मुसलमान डाइरेक्टरों की फ़िल्मों में निरन्तर काम मिलता था । बीमार होकर जब वह पंचगनी आया और छः महीने सेनेटोरियम में रहा तो यहाँ भी उसकी घनिष्टता कासिम भाई के अतिरिक्त कई दूसरे मुसलमानों से हो गई ।

कासिम भाई तो खैर उसी की तरह आर्टिस्ट था, पर दीनानाथ के मित्रों में तो कई दूसरे मुसलमान भी थे । आज वही दीनानाथ इतना कटु हो गया था कि सेठ हीरामल ही की भाँति चाहता था—बस चले तो पंजाब जाय और स्त्रियों तथा बच्चों पर पाशविक अत्याचार तोड़ने वाले मुसलमानों को यथा-शक्ति यम-लोक पहुँचाये । दो महीने पहले कुछ

स्वास्थ्य सुधर जाने और कुछ हाथ तंग हो जाने से वह बाहर आकर रहने लगा था। तभी से पंजाब की खबरें सुन-सुन कर कई बार उस का खून खौल-खौल उठा था और कई बार सपनों में वह कभी तलवार और कभी पिस्तौल लिये आततायी मुसलमानों का संहार करता रहा था।

दीनानाथ के खून में यह खौलाव पिछले दो महीनों ही से पैदा हुआ था, नहीं साम्प्रदायिक दंगे तो साल भर से हो रहे थे। साल भर पहले मुस्लिम लीग के डाइरेक्ट-एक्शन के दिन जो आग कलकत्ता में लगी थी, यद्यपि उस की लपटें बम्बई तक पहुँच गई थीं, पर दीनानाथ ने कभी इस ओर ध्यान न दिया था। लम्बी बीमारी के प्रति बीमार और तीमारदार जैसे दोनों उदासीन हो जाते हैं, इसी प्रकार दीनानाथ भी साम्प्रदायिकता की इस लम्बी बीमारी के प्रति उदासीन था। फिर वह मलाड में रहता था और मलाड बम्बई के फ़िसादी इलाकों से बीस मील दूर था। इस के अतिरिक्त उधर ध्यान देने के लिये दीनानाथ के पास तनिक भी अवकाश न था। वह स्वतन्त्र-रूप से फ़िल्म कम्पनियों में काम करता था और यद्यपि एक्स्ट्रा की स्टेज को पार कर अभिनेता बन गया था, पर वह कोई प्रसिद्ध अभिनेता न था। एक पार्टी को पाकर दूसरी को ढूंढने और सिनेमा की प्रतिक्षण नीचे से खिसकती हुई धरती को पाँव के नीचे बनाये रखने के प्रयास में उसे इतना समय न मिलता था कि वह इस मूर्खता (दंगे-फ़िसाद को दीनानाथ इसी नाम से पुकारता था) की ओर ध्यान दे। फिर सब से बड़ी बात यह थी कि यह दंगा-फ़िसाद कलकत्ता में हुआ था, नोआखाली में हुआ था, बिहार, बम्बई और पश्चिमीय पंजाब के कुछ नगरों में भी हुआ था, पर उसका जन्म स्थान—उसका लाहौर—इस की लपटों से सर्वथा सुरक्षित था और जहाँ तक दीनानाथ का सम्बन्ध है, उसे हिन्दुस्तान का कोई नगर लाहौर

से अधिक प्रिय न था और न किसी और नगर से उसे दिलचस्पी थी। लाहौर तटस्थ बना हुआ था, इसलिए दीनानाथ भी तटस्थ था।

लेकिन तभी बम्बई के अधिक काम, कम आराम और अस्वास्थ्यकर भोजन के कारण फेफड़ों की बीमारी लेकर वह पंचगनी आ गया और न वह उसकी व्यस्तता रही, न तटस्थता।

देश की परिस्थिति दिन-प्रति-दिन बिगड़ रही थी। सेनेटोरियम के रोगी भी यद्यपि खेल-तमाशे, 'ह्विस्ट' अथवा 'रम्मी' ड्राइवों में इकट्ठे योग देते थे, पर जब पाकिस्तान अथवा हिन्दुस्तान के सम्बन्ध में कोई विवाद-ग्रस्त बात आ जाती तो रोगियों को चुप सी लग जाती। एक कासिम भाई ही था जो इस सारे दंगे-फ़िसाद की तह में प्रतिक्रियावादी शक्तियों का हाथ देखता और उन्हें कोसता।

दीनानाथ निरन्तर यह वाद-विवाद सुनता और जब लेटता तो यही सब बातें उसके मस्तिष्क में घूमा करतीं।

परन्तु उधर दो महीने पहले उसने सेनेटोरियम छोड़ा और इधर लाहौर में भयानक विस्फोट हो उठा—इतना भयानक कि कलकत्ता, नोआखाली, बिहार और बम्बई के दंगे उसके सामने मात्र पटाखों से रह गये।

दीनानाथ की तटस्थता भी समाप्त हो गई। आग की लपटें उसके प्रिय लाहौर तक जा पहुँची थीं, बल्कि उन्होंने एक तरह से सब कुछ, जो वहाँ उसे प्रिय था, उससे छीन लिया था। इधर-बाउँडरी-कमीशन के बैठने की घोषणा हुई, उधर मुसलमानों ने अकबरी मंडी जला डाली। दीनानाथ अपने घर और भाई-बाँधवों के लिए चिन्तित हो उठा। उसके तार के उत्तर में उसके भाई का पत्र आया था :—

'मैं तुम्हें पत्र लिख रहा हूँ और लाहौर जल रहा है। मुहल्ला सिरीन, कटड़ा पूरबियाँ, भाटी और दिल्ली दरवाजे के

अंदर हिन्दुओं के मकान, शाहआलमी दरवाज़ा और पापड़ मंडी—सब जल कर राख हो चुके हैं। पापड़ मंडी की आग में सौ से अधिक मकान जल गये। आग रात के अढ़ाई बजे—ऐन करफ़्यू के समय लगाई गई। जो बुझाने आया, वह पुलिस की गोली का शिकार बना। इतनी बड़ी आग लाहौर ने कभी नहीं देखी। अकबरी मंडी, लाहौर की सब से बड़ी गेहूँ की मार्केट—पहले ही जल चुकी है।

'रहा पुराने शहर के बाहर का इलाका, सो अनारकली में उल्लू बोलते हैं। सिविल लाइन सहमी सी लगती है। अमन है, पर वैसा ही जैसा तूफ़ान से पहले होता है। मैजिस्ट्रेट से लेकर मामूली सिपाही तक फ़िरकापरस्त हो गये हैं। लाहौर का काम-काज सब ख़त्म हो गया है। सोचता हूँ, किसी तरह दोनों मकान बेच-बाचकर भागूँ, लेकिन जायदादें पड़ी हैं और ख़रीदने वाला कोई नहीं। लोग भाग रहे हैं—शहर से, सिविल लाइन से, संत नगर से, ऋषि नगर से, राम और कृष्ण नगर से, भारत नगर और माडल टाऊन तक से। लगता है, चंद दिन में लाहौर हिन्दुओं से बिलकुल खाली हो जायगा।'

पत्र पढ़कर दीनानाथ के हृदय में बबूला सा उठा था। उसे लगता था, जैसे लाहौर को नहीं, उसके हृदय ही को आग लग रही है। शाह-आलमी के भरे-पुरे बाज़ार उसकी आँखों के आगे घूम गये। कृष्ण नगर, संत नागर, राम नगर, ऋषि नगर और न जाने हिन्दुओं की कितनी बस्तियाँ लाहौर के आँचल में सितारों सी टँकी हुई थीं। दीनानाथ को लगा जैसे बर्बरता का क्रूर हाथ एक के बाद एक सितारा नोचे जा रहा है उसके भाई के इस पत्र के बाद उसे कोई ख़त न मिला, लेकिन लाहौर

की तबाही, भगदड़ और पश्चिमीय पंजाब में हिन्दू स्त्रियों, बच्चों और बूढ़ों पर होने वाले कल्पनातीत पाशविक अत्याचारों की खबरों ने उसका दिन का चैन और रात की नींद हराम कर दी। तभी जब वह भाई को एयर-मेल से चिट्ठियाँ लिख-लिखकर और तार भेज-भेजकर हार गया था, उसे दिल्ली से उसके भाई का पत्र मिला—

'पिछले दिनों मैं इतना परेशान रहा हूँ कि लिख नहीं सकता। तुम बीमार हो इसलिए तुम्हें परेशान करना उचित नहीं समझा। अब कुछ शान्त हुआ हूँ तो तुम्हें पत्र लिख रहा हूँ। शान्ति का कारण यह नहीं कि मुसीबतें कम हो गई हैं। उनका तो अभी श्री-गणेश हुआ है, परन्तु उनका पहला हमला सह जाने के बाद जब देखता हूँ कि इस मुसीबत में मैं अकेला नहीं हूँ, मेरे साथ लाखों आदमी हैं, जिन पर मेरे ऐसी ही, बल्कि मुझसे भी कहीं ज्यादा, मुसीबतें टूटी हैं तो कुछ साहस बँधता है।

'बर्बरता-जनित इस विपत्ति में बहुत से सदा के लिए खत्म हो गये। शायद वे दूसरों से अच्छे ही रहे हों। बहुत से गिर गये, उन में बैठने की शक्ति नहीं। बहुत से ऐसे हैं जो बैठ तो सकते हैं, पर खड़े नहीं हो सकते। जो खड़े हो सकते हैं, वे चल नहीं सकते। मैं अपने आप को उन लोगों में पाता हूँ जो खड़े हैं और चलने की शक्ति रखते हैं।

'यहाँ महात्मा गांधी, जवाहरलाल और दूसरे नेता इस कोशिश में हैं कि अधिक से अधिक शरणार्थियों को खड़े होकर चलने के योग्य बनायँ। कम्बलों के लिए, धन के लिए अपीलें हो रही हैं, लेकिन मोटे पेट वाले इस दुखद

परिस्थिति से भी अपने पेट को कुछ और बढ़ाने की फ़िक्र में हैं। इसीलिए कीमतें आकाश को छू रही हैं। हर चीज़ महँगी है और दिल्ली का जीवन भी आसान नहीं, परन्तु तुम चिंता न करना। हम सब बच कर आ गये हैं। इन्सान काफ़ी ढीठ सिद्ध हुआ है। दुखद से दुखद परिस्थिति में वह जीने का मोह नहीं छोड़ता और हम सब आज-कल इसी ढीठपने का सबूत दे रहे हैं।'

खत को पढ़ते-पढ़ते उसकी अंतिम पंक्तियों की कटुता दीनानाथ के हृदय को बेध गई। भाई-बंधुओं के बचने की खुशी और असंख्य अपाहिजों के ग़म से उसकी आँखें डबडबा आईं। तभी यह विचार उसके मन में उत्पन्न हुआ कि यदि वह उन असंख्य अपाहिजों में से कुछ-एक को भी इस योग्य बना सके कि वे उठकर जीवन के पथ पर चलने लगें तो कितना अच्छा हो। 'एक कम्बल एक शरणार्थी का जीवन बचाता है'—हिन्द सरकार की यह अपील उसके कानों में गूंज गई और उसने फैसला किया कि वह न केवल अपने पास से एक कम्बल उन अभागे शरणार्थियों के लिए भेजेगा, बल्कि सेनेटोरियम के अपने परिचित हिन्दुओं से भी रुपये इकट्ठे करेगा। मुसलमानों से चंदा माँगने का उसे ध्यान नहीं आया, क्योंकि अब उसकी तटस्थता समाप्त हो चुकी थी और जब सेठ हीरामल ने तीस रुपया देते हुए मुसलमानों को खत्म करने की भयानक-आकाँक्षा प्रकट की तो दीनानाथ को कुछ भी बुरा न लगा, बल्कि उनकी यह हसरत उसे अपने ही दिल के अरमान की गूंज लगी।

"कहो भाई, यह कापी-पेंसिल उठाये किधर जा रहे हो?"

सेठ हीरामल की स्पेशल काटेज से निकल कर दीनानाथ कापी में लिखे हुए तीस के अंक को गर्व-स्फीत दृष्टि से देखता हुआ जुबली वार्ड की ओर चला जा रहा था कि कासिम की आवाज़ सुन कर चौंका। उसके प्रश्न का क्या उत्तर दे, वह सहसा तय न कर पाया। बोला— "यही कुछ पञ्जाब के शरणार्थियों के लिए चन्दा इकट्ठा कर रहा हूँ।"

"यह बड़ा नेक काम कर रहे हो तुम", कासिम बोला—"अभी चार दिन पहले बम्बई में लेखकों और आर्टिस्टों ने सारे नगर में रैली की। तुमने शायद पढ़ा हो, पृथ्वी और नवाब सबसे पहले ट्रक में हाथ में हाथ दिये खड़े थे और उनके पीछे बारह-तेरह ट्रकों में बम्बई के दूसरे प्रसिद्ध अभिनेता, लेखक, आर्टिस्ट—'वे हिन्दू और मुसलमान दोनों इलाकों में गये। हिन्दू और मुसलमान दोनों ने उनका स्वागत किया और दंगे-फ़िसाद के ख़िलाफ उनके भाषण और नारे सुने। मैं तो आप चाहता था कि 'एण्टी-रायट-फंड' के लिए यहाँ से कुछ चन्दा इकट्ठा करके बम्बई के आर्टिस्टों का उत्साह बढ़ाने को उन्हें भेजूँ क्योंकि शरणार्थियों को बचाने की अपेक्षा शाँति-पूर्वक बसते हुए गृहस्थों को शरणार्थी होने से बचाना भी कम महत्व नहीं रखता। लेकिन यहाँ के लोग नहीं माने। उन्होंने दीवाली पर मौज मनाने को अभी तीन सौ रुपया इकट्ठा किया है, हम ने यह भी कहा—महात्मा गाँधी का आदेश है कि ऐसे समय में जब लाखों आदमी बेघर-बेदर भटक रहे हैं, दीवाली की खुशियाँ मनाना अच्छा नहीं लगता, क्यों न वह सब रुपया बम्बई को दंगे-फ़िसाद से बचाने या शरणार्थियों की सहायता के लिए भेज दिया जाय?—लेकिन भाई, मुझे एक पंजाबी दोस्त ने तुम्हारे देश की एक मसल सुनाई थी—"कोई मरे, कोई जिये, सुथरा† घोल बताशे पिये!" यहाँ के लोग उस सुथरे से किसी तरह

† सुथरा—एक विशेष सम्प्रदाय का साधु।

भिन्न नहीं। तुमने बड़ा अच्छा काम किया जो चुप नहीं बैठे। तुमने सेनेटोरियम छोड़ दिया है। तुम बिना आर० एम० ओ०† की आज्ञा लिये मित्रता के नाते चन्दा इकट्ठा कर सकते हो। चलो, मैं भी तुम्हारे साथ चलता हूँ। पाँच रुपये तुम मेरे नाम लिख लो।"

एक ही साँस में यह सब कह कर कासिम उसे अपने साथ अपने वार्ड की ओर ले चला।

"लेकिन भाई, मैं तुम्हें साफ़ कह दूँ, मैं पंजाब के शरणार्थियों के लिए रुपये इकट्ठे कर रहा हूँ।" दीनानाथ ने कुछ झिझकते हुए कहा।

"तो मुझे कब आपत्ति है?" कासिम बोला—"पंजाब से आने वाले हिन्दू-सिख बड़े कटु होंगे। जब तक वे दुखी रहेंगे, उनका साम्प्रदायिक क्रोध शान्त न होगा। और जब तक उनका साम्प्रदायिक क्रोध शान्त न होगा वे अपने ही ऐसे निर्दोष मुसलमानों की हत्या करने से बाज़ न आयँगे। उनकी मदद करना तो मेरे लिए अपने भाइयों की मदद करने के बराबर है।"

अब दीनानाथ क्या उत्तर दे? चुप-चाप वह कासिम के साथ उसके वार्ड की ओर चल पड़ा।

कासिम दीनानाथ को अपने बिस्तर पर ले गया और चाबी से अलमारी खोल कर उसने पाँच का एक नोट दीनानाथ के हाथ पर रख दिया।

नोट लेने के अतिरिक्त दीनानाथ के लिए कोई चारा न था। उसने धन्यवाद दिया और चलने के बिचार से हाथ बढ़ाया।

उसका हाथ अपने हाथ में लेते हुए उसे तनिक रोक कर कासिम

---

† आर० एम० ओ०—Residential Medical offiicer.

भाई ने कहा—"देखो दोस्त, मेरी मानो तो अपनी अपील को ज़रा सा बदल लो। यह क्यों नहीं कहते कि हिन्दू-मुसलमान दोनों शरणार्थियों के लिए इकट्ठा कर रहा हूँ।"

"मुसलमान शरणार्थी तो पाकिस्तान चले गये।"

"फिर क्या हुआ, अभी तो बहुत से बाकी हैं।"

"लेकिन भाई, मैं तो हिन्दुओं ही के लिए इकट्ठा कर रहा हूँ। तुम मुझे इस साफ़गोई के लिए माफ़ करना। तुम मेरे मित्र हो साफ़ साफ़ कह दिया। चाहो तो तुम अपने पाँच रुपये वापस ले लो।"

यह कहते हुए दीनानाथ ने नोट वाला हाथ आगे बढ़ा दिया।

कासिम हँसा—"शायद साधारण हिन्दुओं की तरह तुम्हें भी मुसलमानों से कोई हमदर्दी नहीं और उनकी मुसीबतों को तुम उन्हीं के गुनाहों का फल समझते हो। लेकिन मेरे दोस्त, उनका दोष उन बच्चों के दोष ऐसा ही है जो नहीं समझते कि उनके बड़े उन्हें क्या सिखाते हैं। साधारण लोगों—ख़ास कर अपने देश के साधारण लोगों और बच्चों में कोई अन्तर नहीं। मुसलमान-जनता की बात छोड़ो। तुम हिन्दुओं की बात लो। एक ज़माना था जब महात्मा गाँधी की ठीक इच्छा क्या है, इसे न जानते हुए जनता ने सुभाष बाबू को दूसरी बार कांग्रेस का प्रधान चुना, लेकिन जब महात्मा गाँधी ने पट्टाभी की हार को अपनी हार कहा तो वही सुभाष दूध की मक्खी की तरह निकाल बाहर किये गये। वही लोग उनकी निन्दा करने लगे जिन्होंने उन्हें राष्ट्रपति चुना था। देश में अपमानित होकर सुभाष बाबू, जान की बाज़ी लगा कर, बाहर चले गये। उन्होंने आई० एन० ए० को जन्म दिया और वही जनता उनके गुण-गान करने लगी। फिर वह समय भी आया कि सुभाष बाबू के प्रति जनता के प्रेम को देख कर उसी कांग्रेस को चुनाव जीतने के लिए उनका और उनकी सेना का डिड्डुम पीटना

पड़ा। तुम यदि जन-साधारण में जाओ तो उनकी सरलता को देखकर चकित रह जाओ। अधिकाँश यह नहीं जानते कि उन पर जो यह विपत्ति टूटी है, उसमें ईसा के अनुयायी अंग्रेज़ी का कितना हाथ है। वे नहीं जानते कि १६०६ में अंग्रेज़ों ने हिन्दू-मुसलमानों में नफ़रत का जो बीज बोया था, वही आज विष-वृक्ष बन हमारी इस धरती की जड़ों को विषैला बना रहा है। नहीं जानते कि पंजाब का यह हत्याकाण्ड मुसलमान को हिन्दू से लड़ाने की उस कूट-नीति की चरम-पराकाष्ठा है। यदि कोई निष्पक्ष ट्रिब्यूनल इस भयानक-रक्तपात की छानबीन करे तो संसार को पता चल जाय कि शान्ति के पुजारी महात्मा ईसा के इन अनुयाइयों ने अपने साम्राज्य की आवश्यकताओं के लिए किस हृदयहीन कूट-नीति से लाखों की हत्या कर डाली है। लेकिन जो हो गया, उसे वापस नहीं लाया जा सकता। हमारा कर्त्तव्य तो यही है कि अंग्रेज़ द्वारा लगाये गये इस विष-वृक्ष को जड़ से उखाड़ फेंके। ताकि नये राष्ट्रों के पौधे इसके विषैले प्रभाव से मुक्त होकर स्वतंत्रता से बढ़ें, फलें और फूलें। यह काम इतना सुगम नहीं, यह मैं जानता हूँ, लेकिन हमें यह मालूम तो होना चाहिए कि इस मुसीबत के समय हमारा कर्त्तव्य क्या है।....लेकिन मैं तो भाषण झाड़ने लगा,' सहसा रुक-कर कासिम भाई ने कहा—"तुम भाई, यह रुपये अपने ही पास रखो। मैंने तो केवल इसलिए कहा था कि सेनेटोरियम में मुसलमान, पारसी और ईसाई अधिक हैं और हिन्दू कम। अपनी अपील को ज़रा विस्तार दे लेते तो रुपया ज़्यादा इकट्ठा हो जाता। फिर चाहे तुम हिन्दू शरणार्थियों को भेजते, चाहे मुसलमानों को।"

दीनानाथ को कासिम की बातें उसी तरह ठीक लगी जैसे सेठ हीरामल की। कासिम भाई के स्वर में भी उसे अपने अन्तर के स्वर की गूँज सुनाई दी। पर कौन स्वर ठीक है और कौन ग़लत, यह वह

तय न कर पाया। उसने हारते हुए से स्वर में केवल इतना कहा—"मुझसे यह न होगा कि मैं मुसलमानों से चन्दा इकट्ठा करूँ और हिन्दुओं को भेज दूँ।"

"देखो, ऐसा करो कि तुम 'एण्टी-रायट-फंड' के नाम पर चन्दा इकट्ठा करो। हिन्दू शरणार्थियों की मदद करना भी दंगे को बढ़ने से रोकना ही है। जैसा कि मैंने अभी कहा, वे जब तक पहले की तरह बसेंगे नहीं, अपने दुख का बदला मुसलमानों से लेना छोड़ेंगे नहीं। उन की मदद मुसलमानों की मदद है। चलो, मैं तुम्हारे साथ चलता हूँ। हमारी अपील होगी—दंगे को रोकना और शरणार्थियों की सहायता करना।"

और दीनानाथ की ख़ामोशी को नीम-रज़ा समझ कर कासिम उसके साथ चल पड़ा।

जब तीन घंटे के बाद सेनेटोरियम के दरवाज़े पर कासिम भाई का धन्यवाद करते हुए दीनानाथ ने उससे हाथ मिलाया तो उसकी जेब में दो सौ रुपये थे।

सात दिन तक दीनानाथ निरन्तर चन्दा इकट्ठा करता रहा। कासिम भाई की सहायता से, पहले ही दिन उसे अपने काम में जो सफलता मिली, उससे उसका साहस बढ़ गया था और जहाँ वह दस-बीस रुपये इकट्ठा कर पाने का विचार लेकर घर से निकला था, वहाँ अब उसने पाँच सौ रुपया इकट्ठा कर भेजने का निश्चय कर लिया था। वह बीमार था। इससे पहले वह केवल साँझ-सवेरे बाज़ार तक आया करता था, परन्तु इन सात दिनों में वह टैक्सी लेकर पारसी, खोजा और हिन्दू आदि सेनेटोरियमों तक हो आया था। आस-पास के मकान,

बँगले और बाज़ार उसने मथ डाले और आज आठवें रोज़ वह मेनरोड पर चला जा रहा था और उसकी जेब में दस कम पाँच सौ रुपये थे। उसने सुना था कि डाक्टर मरचेंट का अपना नर्सिंग-होम है जहाँ वे कुछ रोगी रखते हैं और उसका विचार था कि दस की कमी वह उनके नर्सिंग-होम से पूरी करेगा और रुपये भेज कर तब एक सप्ताह तक पूरा आराम करके जो वज़न घट गया है, उसे पूरा करेगा।

दायीं ओर रिंग रोड और उसके बँगलों के ऊपर, ढलवान पर उगे हुए गगन-चुम्बी सिलवर-ओक के पेड़ों की फुनगियों के साथ-साथ, एक काली चट्टानी दीवार चली गई थी। एक दिन दीनानाथ चन्द मित्रों के साथ टेबल-लैंड की इस दीवार को देखने गया था। जब उनकी टैक्सी कान्वेंट स्कूल के पास से होती हुई, साँप की भाँति बल खाती-सी सड़क पर चढ़, इस काली दीवार के ऊपर पहुँची तो दीनानाथ यह देखकर चकित रह गया था कि काली-काली चट्टानी दीवार, दीवार नहीं, बल्कि मीलों तक समतल फैली हुई धरती का एक किनारा है। इस ऊँचाई के ऊपर, किस प्रकार इतनी लम्बी-चौड़ी समतल धरती चारों ओर काली चट्टानी दीवारों पर टिकी रह गई, वह सोचने लगा। पर तब यह सोच-विचार छोड़कर वह टेबल-लैंड के सौंदर्य का रस लेने लगा था—सामने, दृष्टि सीमा तक, समतल धरती फैली थी जिस पर घास शीत से झुलसकर मटमैली बन गई थी। ऊपर नीलाकाश किसी उलटे प्याले की भाँति टेबल-लैंड को ढँके हुए दिखाई देता था। और श्वेत-श्वेत बादल—लगता था जैसे प्याले की मदिरा के गिर जाने से फेन उसके तल से लगी रह गई है।

दीनानाथ इसी रिंग रोड वाले किनारे पर आ खड़ा हुआ। तब इस किनारे से आस-पास की लाल-लाल, मटमैली, रुण्ड-मुण्ड पहाड़ियों में, अनन्त मरुभूमि के छोटे से शाद्वल सी, यह हरी-भरी पंचगनी उसे

बड़ी सुन्दर लगी थी। टेबल-लैंड की उस ऊँचाई से, लम्बे-लम्बे सिलवर के वृक्षों से ढकी हुई नन्ही-नन्ही सड़कें, नन्हे-नन्हे बाग-बागीचे, नन्हे खिलौनों से बँगले और बौनों से स्त्री-पुरुष उसे बहुत ही भले लग रहे थे। उसका जी चाह रहा था कि उस किनारे पर खड़ा निरन्तर पंचगनी की इस स्वर्गिक सुन्दरता को देखता रहे।

लेकिन वह सात दिन से पंचगनी के इन सुन्दर बाग-बागीचों और बँगलों में घूम रहा था और उसे पता चला था कि टेबल-लैंड से इतनी सुन्दर दिखाई देनेवाली पंचगनी वास्तव में कितनी कुरूप है। सात दिन से घर-घर घूमने पर उसे मालूम हुआ था कि चार सेनेटोरियमों के अतिरिक्त (जहाँ खुले आम दिक़ के रोगी रह सकते हैं) स्थायी निवासियों के निवास-स्थानों को छोड़कर, कम ही ऐसे बँगले अथवा घर होंगे जहाँ यक्ष्मा से पीड़ित अथवा उनके दुख से दुखी सगे-सम्बन्धी नहीं रहते।

चलते-चलते टेबल-लैंड के नीचे, सिलवर के पेड़ों से ढके, इन सुन्दर बँगलों को देखते-देखते दीनानाथ के हृदय से एक दीर्घ-निश्वास निकल गया। इन बँगलों और इनमें स्वास्थ्य-लाभ करनेवाले रोगियों की श्री-सम्पन्नता का ध्यान आते ही बाज़ार के नीचे चैसेन-रोड तक बने हुए बँगला-नुमा-दड़बों में इस मूज़ी रोग से जूझनेवालों की विपन्नता उसके सामने घूम गई। साथ ही दो घटनाएँ और दो आकृतियाँ उसकी आँखों में कौंद गईं।

चेसेन रोड के एक दड़बे के दरवाज़े पर उसने दस्तक दी थी। किसी ने खाँसते हुए क्षीण स्वर में उत्तर दिया था—'आ जाइए!'

दरवाज़ा बन्द था। वह अन्दर चला गया था। एक बहुत छोटा कमरा था, जिसमें एक चारपाई, एक मैली-सी कुर्सी और तिपाई पड़ी थी। इससे अधिक फ़र्नीचर कमरे में रखा ही न जा सकता था।

चारपाई पर एक अत्यधिक क्षीण रोगी कंठ तक लिहाफ़ ओढ़े और गर्दन और गले को गलूबन्द से पूरी तरह लपेटे पड़ा था। दीनानाथ ने अपना मन्तव्य प्रकट किया और अपनी बीमारी के बावजूद देश की इस विपत्ति में अपना कर्त्तव्य निभाने की बात कही तो उस रोगी की आँखें चमक उठीं। बड़े कष्ट के साथ काँपते हुए हाथों से, तकिये के नीचे से टटोल-कर उसने एक छोटा सा बटुआ निकाला और रुपये रुपये के दो नोट उसकी ओर बढ़ाते हुए कहा :—

"आप बड़ा नेक काम कर रहे हैं। मुझे तो बैठने तक की मनाही है। दोनों फेफड़े खराब हैं, नहीं मैं स्वयं आपके साथ चल कर चन्दा इकट्ठा करता। ग़रीब आदमी हूँ। इतनी कम रक़म के लिए क्षमा कीजिएगा।"

दीनानाथ के गले में गोला सा अटक गया। आर्द्र होकर उसने कहा—"जी, आप के यह दो रुपये दो सौ के बराबर हैं। बूंद-बूंद ही से तालाब भरता है। आपके इन दो शब्दों से मुझे जितना प्रोत्साहन मिला है, वह भी तो अपना मूल्य रखता है।"

और उसने उनका नाम पूछा।

"दो रुपये के लिए नाम...?" रोगी ने कहना चाहा।

दीनानाथ ने बात काट कर कहा—"आप नाम लिखा दीजिए। मुझे तसल्ली हो जायेगी कि मैं सब जगह गया और उन्हें तसल्ली होगी कि सब सम्प्रदाय इस विपत्ति में उनके साथ हैं।"

"नासिर० एम० आबूवाला।" रोगी ने विवशता से कहा।

नासिर भाई की पीली-पीली मुरझाई हुई आकृति के ऊपर दीनानाथ की आँखों में चम्पक लाल राम-रत्न पटेल की हृष्ट-पुष्ट चमचमाती सूरत घूम गई थी।

पंचगनी में उनकी बड़ी दूकान है। वह सुवह उनके यहाँ गया तो जो महाशय काऊँटर पर खड़े थे, उन्होंने कहा कि हमारे साझीदार आयँ तो उनसे पूछ कर देंगे। दीनानाथ ने कहा—"आप को जो भी देना हो, दे दीजिए। मैं बीमार आदमी हूँ। बार-बार आने में मुझे कठिनाई होगी।"

"जी, बिना पूछे हम कैसे दे सकते हैं। साझीदारी का मामला है। आप संध्या को आइए।"

दीनानाथ संध्या को फिर उनके यहाँ पहुँचा। काऊँटर पर दूसरे बुज़ुर्ग थे। उन्होंने संन्यासियों के से अन्दाज़ में बताया कि वे तो सब माया-मोह से किनारा कर वैठे हैं और दूकान में उनके हिस्से का वाली उनका वेटा चम्पक है। दीनानाथ चन्दे के सम्बन्ध में उन्हीं से पूछे।

आज सुबह वह उनके उत्तराधिकारी चम्पक लाल से मिला था। सौभाग्य से दोनों साझीदार स्टोर पर थे। चम्पक लाल सूट बूट से लैस गोरे रंग और मँझले कद का, युवक था। गाल उसके छोटी-छोटी डबल रोटियों की भाँति फूले हुए थे, क्रीम से चमचमा रहे थे और उसकी आकृति पर अपूर्व तुष्टि का आभास था। दीनानाथ ने जब उस से अपना मंतव्य प्रकट किया तो उसने पूछा, "आप के पास किसी का अधिकार-पत्र है? क्या प्रमाण है कि रुपया आप शरणार्थियों को पहुँचा ही देंगे?"

दीनानाथ ने कासिम भाई के बताये हुए गुर के अनुसार कहा कि वह आर्टिस्ट है और अभी दो अक्टूबर को बम्बई के आर्टिस्टों और लेखकों ने दंगा रोकने के लिए जो रैली की है, उसी के उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह चन्दा इकट्ठा कर रहा है। देवधर हाल में उनका आफ़िस है। वहीं वह सब रुपया भेज देगा। मनीआर्डर की रसीद उन को दिखा देगा।

तब उसने कापी दीनानाथ के हाथ से लेकर लिस्ट पर दृष्टि डाली और फिर संतुष्ट हो कापी उसे देते हुए पूछा—"आप कितना चाहते हैं ?"

दीनानाथ उस युवक के व्यवहार से कुछ जल गया था। उसने कहा—"आप ने लिस्ट तो देख ही ली है। यहाँ तीस रुपये भी हैं और चार आने भी। आप को जो अभीष्ट हो, दे दीजिए।"

तब उसने दराज़ से चार आने निकाल कर काऊँटर पर दीनानाथ के सामने फेंक दिये और साझीदार से, जो कदाचित् उसके चचा थे, कहा कि चार आने फंड में दिये हैं, नोट कर लें।

ऊपर टेबल-लैंड अपनी समस्त सुन्दरता के साथ अविचल खड़ी थी और नीचे पंचगनी और उस के बँगले और दुकानें और दड़बे—जिन में सुन्दर सूरतें और कुरूप दिल तथा असुन्दर सूरतें और सुन्दर दिल थे। प्रकृति के अपूर्व सौन्दर्य की छाया में क्या समस्त सभ्य-संसार और उसके वासी पंचगनी और उसके वासियों ऐसे नहीं—दीनानाथ सोचने लगा—लेकिन तभी डाक्टर मरचेंट का नर्सिंग-होम आ गया और वह अपने विचारों को झटक कर उस ओर बढ़ा।

डाक्टर मरचेंट के नर्सिंग-होम में एक बड़ा बँगला और पीछे के दो छोटे ब्लाक शामिल थे। बड़े बँगले में चार ब्लाक थे। दीनानाथ को पहले ब्लाक ही से पाँच रुपये मिल गये। कोई उदार-विचारों का धनी युवक अपनी बीमार पत्नी को लेकर आया हुआ था। सुबह ही डाक्टर साहब ने बताया था कि उसे अब आराम आ गया है और वह प्रसन्न था। दूसरे ब्लाक से दो रुपये और तीसरे से एक रुपया मिला था। चौथा ब्लाक खाली था। दो रुपये उसे दरकार थे और वह पीछे की ओर चल पड़ा।

अभी वह ब्लाक से दूर ही था कि उसे एक स्त्री पिछली ओर (सम्भवतः रसोई-घर के आगे) एक लड़की के साथ खड़ी दिखाई दी। दीनानाथ को देखते ही दोनों अन्दर भाग गईं। लेकिन उस एक निमिष ही में दीनानाथ ने जहाँ उनकी भूषा देखकर जान लिया कि वे उत्तर की हैं—चाहे फिर पंजाब अथवा यू० पी० की हों—वहाँ उन की आकृतियों पर गहरी व्यथा की छाप भी उससे छिपी न रही। उन की दुखी निगाहें तीरों की भाँति उसके हृदय को बेधती हुई चली गईं। वह उन निगाहों की व्यथा से अनभिज्ञ न था। नये-नये पंचगनी आने वाले रोगियों और उनके तीमारदारों की आँखों में कुछ ऐसी ही व्यथा होती है। इनके साथ आने वाले रोगी की बीमारी कदाचित् असाध्य है इसीलिए इनकी आँखों के ग़म की मात्रा भी अधिक है—उसने मन-ही-मन सोचा—और बढ़कर पहले ब्लाक पर दस्तक दी।

वहाँ से उसे एक रुपया मिल गया। अब पाँच सौ में केवल एक रुपया कम रह गया था। वह उत्साह के साथ, आशा और निराशा में झकोले लेता सा, दूसरे ब्लाक की ओर बढ़ा। न जाने क्यों, वह चाहता था कि उसी ब्लाक से उसे एक रुपया मिल जाय और उसका पाँच सौ रुपया पूरा करने का निश्चय डा० मरचेंट के नर्सिंग-होम ही में पूरा हो जाय—और उसने दस्तक दी।

कुँडी खोल कर जो लड़की दीनानाथ के किवाड़ खोलते खोलते अन्दर भाग गई, दीनानाथ को लगा कि वही थी जो उसे आते समय कदाचित् अपनी माँ के साथ बाहर खड़ी मिली थी।

अन्दर चारपाई पर एक पचास-पचपन वर्ष के अत्यन्त क्षीण-काय बुज़ुर्ग लेटे थे। एक अजनबी को देख कर उठ बैठे। उनके कल्लों की स्याही और दृष्टि के सहम में उन माँ बेटी की-सी व्यथा छिपी थी

उनको देखकर दीनानाथ को अपना संदेह ठीक ही जान पड़ा। उसने अपने आने का मंतव्य प्रकट किया तो उनके ओठों पर एक वेदना-भरी क्षीण मुस्कान फैल गई।

"हम ग़रीब क्या मदद कर सकेंगे ?" उन्होंने कहा।

"कुछ भी दीजिए, लोगों ने तीस रुपये से लेकर चार आने तक दिया है।"

तब उन बुजुर्ग ने अपने लकड़ी जैसे हाथों से बिस्तर के नीचे से कुछ टटोलने का प्रयास किया। असफल रहने पर आवाज़ दी—"अफ़ज़ल !"

वही छोटी-सी लड़की क्षण भर के लिए किवाड़ की ओट में आ खड़ी हुई और उसने जिस तरह कहा कि "अफज़ल बाहर गया ऐ !" उससे अनायास दीनानाथ के मुँह से निकला—"की तुसीं पंजाबी ओ ?"

यह कहते हुए वह पास पड़ी हुई लोहे की कुर्सी पर बैठ गया।

"जी असीं बे-नसीब जलन्धर दे रहनवाले आँ !"

"वहाँ कोई मुसलमान रहा या पश्चिम के हिन्दुओं की तरह सब उजड़ गये ?"

"सब तबाह हो गये !" बुजुर्ग ने आर्द्र कंठ से कहा और पहरावे से उसे मुसलमान समझकर वे अपनी विपदा की कहानी उससे कह चले।

दीनानाथ ने पाकिस्तान में हिन्दू-सिख स्त्रियों पर होनेवाले पाशविक अत्याचारों की बात सुनी थी—कुँवारी लड़कियों के साथ बलात् किया गया। उनको नंगा करके उनकी छातियों पर पाकिस्तान ज़िन्दाबाद लिखकर उनका जलूस निकाला गया। बड़ी बूढ़ियों की छातियाँ काटी गईं ! माँ-बाप के सामने उनकी बच्चियों के साथ मुँह काला किया गया

बच्चों के सामने उन के माता-पिता की गर्दनें काटी गईं। क़त्ल, ग़ारतगरी, लूट की ऐसी दहला देनेवाली घटनाएँ पढ़-सुनकर दीनानाथ का रक्त खौल-खौल उठा था। लेकिन उन बुजुर्ग से जालन्धर में मुसलमानों की तबाही का हाल सुनते-सुनते दीनानाथ के रोंगटे खड़े हो गये। इन में से कौन सा अत्याचार था जो राम और कृष्ण, नानक और गोविन्द के नाम-लेवाओं ने मुसलमानों पर न तोड़ा था। जब उन बुजुर्ग ने बताया कि स्टेशन के पास हिंदुओं ने दो बड़े-बड़े हवन-कुण्ड बना रखे थे जिन में मुसलमानों को बली के बकरों की भाँति जीवित झोंक दिया जाता था और प्रतिशोध के देवता को यह बली देकर ब्राह्मण उल्लास से जयकारे बुलाते थे तो दीनानाथ के लिए कुर्सी पर बैठे रहना मुश्किल हो गया। बेचैन होकर वह कमरे में घूमने लगा। उन बुजुर्ग के दो बड़े लड़के, एक लड़की और दामाद, भिन्न यातनाएँ सहकर प्रतिशोध की इस वह्नि में जल गये थे। वे अपनी पत्नी और बच्ची के साथ दिल्ली में हकीम को अपना आप दिखाने आये हुए थे। दिल्ली में झगड़ा हुआ तो किसी प्रकार तन के कपड़े लेकर बम्बई पहुँचे। बीमार तो थे ही। बम्बई के डाक्टरों ने दिक का फ़तवा दिया। किसी प्रकार मुसलमान भाइयों की सहायता से पंचगनी आये। उन का छोटा लड़का पाकिस्तान चला गया था। उन की बीमारी की ख़बर पा, जान को जोखम में डालकर कराची के रास्ते बम्बई पहुँचा।

"इन्तक़ाम की आग में तन-मन जलता है," वे बोले, "लेकिन जब उससे पाकिस्तान में हिन्दुओं पर होनेवाले ज़ुल्मों की बात सुनते हैं तो इसे अपने ही गुनाहों का फल समझकर चुप हो रहते हैं। दो महीने से डाक्टर मरचेंट के यहाँ पड़े हैं, लेकिन मुसलमान ही सही डाक्टर साहब काहूँ तो हैं नहीं। कब तक मदद करेंगे!" और उन्हों ने माथे पर हाथ मारकर कहा कि जो खुदा को मंजूर है.....

बात समाप्त करते-करते बुजुर्ग की आँखों से अनायास आँसू बहने लगे तब न जाने दीनानाथ को क्या हुआ। वह सेठ हीरामल से किया हुआ अपना वचन भूल गया। आवेग-वश जेब से उस ने एक कम पाँच सौ के नोट और रेज़गारी निकाली और उसे बुजुर्ग के सामने चारपाई पर रख दिया।

बुजुर्ग ने चकित-तरल आँखों से उस की ओर देखा।

"बाबा, मैं भी हिन्दू हूँ। मेरा घर-द्वार पाकिस्तान में लुट चुका है। पाकिस्तान में रब्बुल-आलमीन में यकीन रखनेवाले मुसलमानों ने बेकसूर हिन्दूओं पर और हिन्दुस्तान में घट-घट में वासी भगवान के अनुयाइयों ने निर्दोष मुसलमानों पर जो अत्याचार तोड़े हैं, उन का कफ़्फ़ारा * वे सात जन्म में अदा नहीं कर सकते। मेरी यही दुआ है कि भगवान उन दोनों को सुमति दें। मैं यह चन्दा पंजाब के दुखी शरणार्थियों के लिए इकट्ठा कर रहा था। आप भी पंजाब के शरणार्थी हैं और दुखी भी कम नहीं। रुपया ज्यादा नहीं, पर देखिए, यदि इस से आप का कुछ काम निकल सके।"

और इस से पहले कि बुजुर्ग कुछ कहते अथवा दीनानाथ कोई दूसरी बात सोचता, वह रूमाल से आँखों को पोंछता हुआ बाहर निकल आया।

आस पास रुण्ड-मुण्ड, सूखी मटियाली पहाड़ियाँ बिखरी हुई थीं और उन के मध्य अपनी समतल धरती और समस्त भव्यता को लिये हुए टेबल-लैंड खड़ी थी। दायीं ओर डूबते हुए सूर्य की किरणें सिलवर के पेड़ों की फुनगियों को छूती हुई उसे अपूर्व-आकर्षण प्रदान कर रही थीं।

---

* कफ़्फ़ारा = पश्चाताप।

कौशल्या अश्क



ठेस

रजवा भागती हुई सी अपनी कोठरी में आई, उसने अपने नये कपड़े उतार कर फेंक दिये, जल्दी-जल्दी पुराने, तार-तार चीथड़े पहने और पिछले दरवाज़े से बाहर निकल गई।

नये कपड़े उतारते समय, जैसे कल्पना ही में, वह क्षण भर के लिए रुकी थी; पुराने चीथड़े पहनते समय भी वह निमिष भर के लिए रुक गई थी, अपनी यथार्थ-स्थिति का भी जैसे उड़ता हुआ सा आभास उसे मिला था, परन्तु जो अंधी-दुर्निवार भावना उसे अपनी कोठरी में भगा लाई थी, वही जैसे उसे यह सब करने पर विवश कर रही थी और उसी ने जैसे उसे धकेल कर बाहर कर दिया।

उसका जन्म कब हुआ ? कहाँ हुआ ? किन परिस्थितियों में हुआ ? उसे कुछ भी ज्ञात न था, उसने तो जब से होश सम्हाला, अपने आप

को अपनी चची के साथ घूमते पाया। उसकी चची—न जाने वह उस की चची थी भी या नहीं—जहाँ कहीं भी भीख माँगने जाती, उसे साथ ले जाती। जाने वह कहाँ-कहाँ घूमी थी—गली-गली, घर-घर, दर-दर.........

बालिका से वह किशोरी बनी और किशोरी से युवती, किन्तु यह सब समय मानों एक जलता-तपता, विशाल मरु था जिसमें कहीं भी तो चार हरे तिनके न थे और अब यौवन के साथ इस मरु की उष्णता में और भी वृद्धि हो गई थी। जलती-तपती बालू और विषाक्त तूफानों के अतिरिक्त उसे कहीं कुछ दिखाई न देता। और इस विशाल-मरुस्थल में उसके पाँव ही न जलते थे, उसका रोम-रोम झुलस उठता था। ओठ और कंठ ही न सूखते थे, लगता था जैसे उसके हृदय का स्तर-स्तर सूख कर मुरझा जायगा—लगता था जैसे वह दम घोंटने वाली उष्णता से संतप्त होकर समाप्त हो जायगी—या उस विषैले-पवन का कोई झोंका उसके शरीर में सदैव के लिए विष भर देगा।

तभी एक दिन उसकी चची नगर से बाहर नयी बस्ती में भीख माँगने गई। बस्ती अभी पूर्णतयः बसी न थी और मकान किसी शराबी के गडमड सपनों की भाँति बिखरे हुए थे। यों तो वह पहले भी दो चार बार इधर आई थी, पर उन दिनों अधिकतर मकान ख़ाली ही पड़े रहते थे। बिजली न थी, नालियों का प्रबन्ध न था और गन्दे चहबच्चों के मारे गलियों में नाक न दी जाती थी। फिर चोरों का भय भी था। किन्तु अब बिजली आ गई थी, नालियाँ भी बुरी-भली बन गई थीं और वहाँ के प्रबन्ध-कर्त्ताओं ने दो चौकीदार भी रख दिये थे इसके अतिरिक्त युद्ध के कारण अगणित लोग नगर में आ गये थे। अतः नगर से दो मील की दूरी पर बसी इस बस्ती के मकान भी खाली न रहे थे और रजवा की चची ने फिर इधर आना आरम्भ कर दिया था।

बस्ती के उन निवासियों में एक कवि भी था—पतला छरहरा शरीर, गेहुँआ रंग, बड़े-बड़े घुँघराले बाल, पतले-पतले गुलाबी ओठ, आँखें न बहुत बड़ी न छोटी, जिन पर सदैव एक चश्मा लगा रहता था—इस कवि से उन लोगों को प्रायः भिक्षा मिल जाया करती थी।

उस दिन कवि कुछ प्रसन्न था। जब वह उसके दरवाजे पर भीख माँगने गई तो उसने रजवा की चची से हाल चाल पूछा। रजवा की चची जैसे इसी बात की प्रतीक्षा कर रही थी। उसने कवि को प्रसन्न देख कर अपने रोगी पति की कहानी सुनाई—"ग़रीबों का हाल चाल कैसा बाबू जी! कमाने वाला बीमार पड़ा है और हम दोनों घर-घर भीख माँग रही हैं। परदेशी लोग हैं, किसी को जानते नहीं कि कहीं कोई काम काज कर लें......।"

कवि की प्रसन्नता हल्के, श्वेत बादल सी उड़ गई। उसका मुख गम्भीर और उदास हो गया। करुणा से भर कर उसने उनको एक रुपया दिया। रुपया देते समय उसने एक दबी हुई निगाह रजवा के मुख पर डाली। रजवा को उस दृष्टि में कुछ ऐसी चीज़ दिखाई दी जो उन सभी निगाहों से भिन्न थी, उन सभी निगाहों से, जो नितान्त निसंकोच होकर उसके मुख से लेकर उसके शरीर के अंग-अंग का निरीक्षण कर लेती थीं। जिनमें धृष्टता के साथ वासना भी लपलपाया करती थी। कवि की उस दबी-दृष्टि में न धृष्टता थी न वासना। थी केवल एक चकित-उत्सुकता! और स्वयं रजवा की आँखों में उस सहृदय कवि के लिए श्रद्धा सी उमड़ आई थी।

उसका चचा बीमार न था। वास्तव में उसका कोई चचा था ही नहीं। रही उसके रोग की गाथा, सो चची को ऐसी कहानियाँ गढ़ने में अपूर्व-दक्षता प्राप्त थी। उसकी कहानियों का कोई अन्त न था। प्रत्येक व्यक्ति के लिए उसके पास नयी कहानी थी—उसका घर

कोयटा के भूंचाल में भी नष्ट हुआ था, बिहार के भूकम्प में भी और बंगाल के अकाल में भी। जिस वर्ष वर्षा अधिक होती, उसका घर बाढ़ की भेंट हो जाता। कभी उसका पति बीमार हो जाता। कभी मर जाता—कहानियाँ बनाना और उन्हें निबाहना वह खूब जानती थी। रजवा काँटे पर चारे का काम देती थी, किन्तु रजवा की चची इस बात का ध्यान रखती थी कि मछली तो फँस जाय, पर वह चारा न निगलने पाये।

परन्तु कवि के यहाँ जाते समय रजवा सदैव अपनी चची के पीछे रहती। न जाने क्यों कवि से वह लजाती थी। भीख उसकी चची माँगती, बातें भी उसकी चची करती। रजवा कुछ अन्तर पर चुपचाप खड़ी रहती। वह चाहती कि स्वयं भी आगे बढ़ कर कुछ बात करे, किन्तु वे समस्त बातें जो वह दूसरों से किया करती, उसके ओठों तक आकर रह जातीं और उसके मुँह से एक शब्द भी न निकल पाता।

तभी एक दिन कवि ने रजवा की चची की करुणाजनक कहानी सुन कर कहा, "यदि तुम या रजवा कोई आकर मेरे यहाँ कुछ काम कर दिया करो—यही कुछ झाड़ - बुहारी या एक दो कपड़ों की धुलाई आदि तो मुझे भी सुविधा हो जाय और तुम्हारा भी काम चल जाय।" और फिर स्वयं ही उसने कहा—"तुम्हें सम्भवतः अपने पति की देख-रेख करनी होगी, तुम न आ सको तो रजवा ही दो एक घंटों के लिए हो जाया करे।"

"आप की दया बनी रहे बाबू जी।" उसकी चची ने रटे हुए आशीर्वादों का क्रम आरम्भ करते हुए कहा, "मैं इससे अभी कह देती हूँ। मैं स्वयं सौ बार आप का काम कर देती, पर मेरे पति का जी ठीक नहीं। आप यदि सहायता न देते तो न जाने उसकी क्या दुर्गति होती।"

चचा के रोग की वास्तविकता को रजवा भली-भाँति जानती थी। वह इस झूठ पर झुँझला भी उठा करती थी और जब उसे इस झूठ

को सत्य बनाने में स्वयं भी योग देना पड़ता था तो वह झल्ला जाती थी, परन्तु इस बार उसे झल्लाहट नहीं हुई। उसके हृदयाकाश पर हल्के-फुल्के बादल छा गये। ओठ मुस्करा उठे और उसके तन में एक अज्ञात सी सनसनी दौड़ गई।

"रजवा इधर आ बेटी।"

"जी आई।" कहते हुए रजवा आगे बढ़ी, किन्तु स्वर उस के ओठों से नहीं निकला। उसका मुख लज्जा से लाल हो उठा, आँखें झुक गईं और वह बढ़ी तो उसकी गति में कम्पन था।

लज्जा की यह अनुभूति उसके लिए एक दम नयी थी। पहले वह स्वयं अपने मुख को लज्जा के अकृत्रिम आवरण से ढाँपने का प्रयास किया करती थी, किन्तु अब अनायास उसके मुख पर लज्जा की अरुणिमा छाई जा रही थी।

"देखो बेटी, रोज़ आकर इन बाबू जी का काम कर दिया करो। यदि मैं न भी आ सकूँ तो तुम अवश्य आकर इनका काम देख जाया करो।"

और उस की चची आठ आने पाकर, शुभ वचनों के फूल बरसाती चली गई थी और जीवन में सम्भवतः पहली बार धक-धक करते हुए हृदय को लिये हुए रजवा अपने आप कमरे की सफ़ाई करने लगी थी।

•

कवि दिन-दिन भर पढ़ता, दिन-दिन भर कविता लिखता। कविता लिखते समय वह पागलों की भाँति सुध-बुध खो देता। काम करते-करते रजवा उसकी ओर देखने लगती—एक टक वह उस की ओर देखती रहती—कविता लिखने के पश्चात् वह उसे उच्च-स्वर में गाता। उस समय अपनी इस सफलता के मद में झूमते हुए उसके पतले गुलाबी

ओठों पर एक अस्फुट-मुस्कान दौड़ जाती। रजना उसे चुपचाप देखती रहती। वह जो कुछ लिखता है, उसका अर्थ क्या है? यह तो वह कभी न समझ पाती, परन्तु उसका गाना उसे अतिशय प्रिय लगता। और उसके हृदय के तार किसी अदृश्य मिज़राब के स्पर्श से झनझना उठते। ऐसे में जब कवि कभी उसकी ओर देख लेता तो उसके मुख पर अपने आप वही अरुण-श्वेत-आवरण सा छा जाता। वह कवि की ओर केवल उसी दशा में देख पाती, जब वह उसकी ओर न देख रहा हो। जब कभी वह उसकी ओर देखता, रजवा के पलक झुक जाते।

जनवरी का महीना था। वर्षा के अभाव में सूखा जाड़ा पड़ने के कारण कवि बीमार हो गया।

"रजवा ज़रा तीन नम्बर से डाक्टर साहब को बुला लाओ! मेरा नाम ले देना", ज्वर के कारण चढ़ी हुई आँखों और पीड़ा के मारे फटे जाते हुए सिर को थाम कर कवि ने कहा।

रजवा पूरा वाक्य सुने बिना ही भाग गई।

डाक्टर साहब ने आकर निरीक्षण किया। "निमोनिया हो गया है," उन्होंने चिन्तित स्वर में कहा, "मैं दवा भेजता हूँ, सावधानी से उपचार करने की ज़रूरत है।"

रजवा को उन दिनों न जाने क्या हो गया? दिन भर वह कवि के सिरहाने बैठी रहती और सारी रात उसकी सेवा-शुश्रूषा में काट देती। यह कवि कौन है? उसके सम्बन्धी नहीं क्या? इतने बड़े नगर में यह अकेला क्यों है? इसी प्रकार के बीसियों प्रश्न उसके मस्तिष्क में उठते। और वह चाहती कि वह कवि के सगे-सम्बन्धियों का अभाव, उसके माता-पिता का अभाव, उसके मित्रों का अभाव—सब अपनी सेवा और उपस्थिति से पूरा कर दे।

वह दूसरों से कितना भिन्न था। इतने दिनों से वह उसके यहाँ काम करती थी, किन्तु उसने कभी कोई अनुचित-चेष्टा नहीं की, कोई अश्लील-संकेत नहीं किया। लगता था जैसे वह कोई उदास थकी हारी आत्मा है, जो नगर से दूर इस बस्ती में आ बसी है। वह उसके एकाकीपन को यथा सम्भव दूर कर देना चाहती थी।

रजवा की चची उसका महीने का वेतन और इनाम पाकर प्रसन्न थी और रजवा इस वेतन में से एक पैसा लिये बिना, उन्हीं मैले, फटे, जीर्ण-शीर्ण चीथड़ों से (जो बार-बार साबुन लगाने पर भी मैल न छोड़ते थे) घर का काम किये जाती थी। उसे अपने खाने, पीने, पहनने, सोने की सुधि न थी। दिन रात वह कवि की सेवा-शुश्रूषा में लगी रहती थी।

पूरे डेढ़ महीने बाद कवि का स्वास्थ्य सुधरा। इतने दिन जागते रहने और चिन्ता के कारण रजवा का रंग पीला पड़ गया, उसकी आँखें कुछ सूज सी गईं और उनके गिर्द काले गढ़े पड़ गये। फिर भी कवि को स्वस्थ देख कर वह खिल उठी।

जब वह जाने लगी तो कवि ने सहसा उसका हाथ थाम लिया—उसका मुख अभी तक क्षीण था, ओठों पर पपड़ियाँ जमी हुई थीं। और उसकी मुस्कान में असीम थकान थी।

"रजवा, तुमने मुझे बचा लिया। तुम्हारी इस सेवा का बदला मैं इस जीवन में न चुका सकूँगा......"

"आप अच्छे हो गये, मेरे लिए यही बहुत है। मैं बदले में कुछ नहीं चाहती।"

उस दिन कवि ने रजवा को घर न जाने दिया। जब उसकी चची आई तो कवि ने कहा :

"मैं अभी बहुत कमज़ोर हूँ, उठने-बैठने की हिम्मत नहीं। अच्छा

हो यदि कुछ दिन और रजवा को यहीं रहने दो !" और रोग से मुक्ति पाने के उल्लास में उसने रजवा की चची को बहुत सा पुरस्कार दिया और भी दस-दस के चार नोट उसके हाथ में रख कर कहा कि वह रजवा के लिए नयी धोतियाँ और ब्लाउज़ ला दे ।

चची ने धोतियाँ ला दीं और यद्यपि रजवा उन्हें पाकर बहुत प्रसन्न हुई, किन्तु सम्भवतः कवि को वे पसन्द न आईं, क्योंकि जब वह बाज़ार जाने योग्य हुआ तो सब से पहला काम जो उसने किया वह यह था कि रजवा के लिए अच्छे बहुमूल्य वस्त्र ख़रीद लाया ।

रजवा वहीं रहने लगी—कवि की सेविका के रूप में । किन्तु सेविका कहाँ, वह तो वास्तव में स्वामिनी थी । न जाने कहाँ से कवि को प्रति-मास तीन सौ रुपया मनीआर्डर से आता था । न जाने उसकी कोई सम्पत्ति थी, जिसकी आय उसका मुनीम भेजता था ? न जाने उस का कोई अभिभावक था, जो उसे प्रति-मास इतना रुपया भेज देता था ? रजवा ने कई बार पूछना चाहा, किन्तु उसे कभी साहस न हुआ । यह तीन सौ रुपया कवि प्रति-मास उसके हाथ पर रख देता था और वही सब्ज़ी-तरकारी, आटा-दाल, लकड़ी-कोयले का प्रबन्ध करती । इन दो महीनों ही में उसने कवि को नये कुर्ते और धोतियाँ ला दी थीं । उस के बिस्तर की चादरें, उसके तकियों के ग़िलाफ़—सब बदल दिये थे । मेज़ों पर नये मेज़पोश बिछा दिये थे और यद्यपि उसने अपनी चची को प्रति-मास अपना वेतन भी दिया था और यद्यपि उसने कवि को बताया न था, परन्तु उन रुपयों में से पचास रुपये उसने बचा कर भी रख लिये थे ।

यह सब कुछ था, किन्तु इसके बावजूद रजवा प्रसन्न न थी । एक

विचित्र प्रकार की अज्ञात, अनाम व्यग्रता उसे परेशान रखती थी और यद्यपि वह दिन भर काम करते-करते थक जाती थी, किन्तु रात को जब वह अपने कमरे में आकर, अपनी चारपाई पर लेटती तो उसे नींद न आती। उसे उन दिनों की स्मृति हो आती जब सूखी धरती पर, सूने आसमान के नीचे अथवा किसी आम, जामुन या वट की छाया में, या घड़घड़ाती गाड़ियों का बोझ अपने वक्ष पर उठाने वाले किसी पुल की ओट में वह बेसुध सो जाती थी। इस सुख-वैभव की शान्त-स्निग्धता में भी उसे नींद न आती।

कई बार वह बाहर आँगन में चली जाती थी। शरद्-ऋतु की निखरी-धुली चाँदनी जैसे उसी की भाँति निरर्थक अपना आप जला कर दूसरों को ठंडक पहुँचा रही होती। उसका जी चाहता कपड़े तार-तार कर दे। चाँद की उन उज्ज्वल-निर्मल किरणों में उस ठंडे फर्श पर लेट जाय। उस हिम जैसे शीत में रात भर लेटी रहे और वहीं पड़ी पड़ी अकड़ जाय। मर जाय। प्रातः जब कवि उसे देखे तो तारों जैसे दो अश्रु-कण उसकी आँखों में झिलमिला आयँ।

कई बार वह कवि के कमरे में जगते प्रकाश को एक टक देखती और जब बहुत रात गये वह प्रकाश बुझ जाता तो वह थक कर आँखें बन्द कर लेती, किन्तु वैसे ही कई प्रकाश-कण उसके चारों ओर जलने लगते। जलते और एक दूसरे में समा जाते और फिर उन के स्थान पर, आग की लपटें दमक उठतीं। उन लपटों की तीव्रता क्षण-क्षण बढ़ती जाती और उसे अनुभव होता जैसे वह स्वयं एक ज्वाला बन जायगी और फिर सहसा एक ही बार लपक कर बुझ जायगी।

और कई बार जब उसे कवि की पद-चाप सुनाई देती तो वह चौंक उठती। उसे लगता जैसे वह अभी उसके कमरे आ जायगा। उसके आने की आशा ही से उसका हृदय ज़ोर-ज़ोर से धक-धक करने लगता,

परन्तु कवि उसकी चौखट के अन्दर कभी न आता। वापस मुड़ जाता और अपने कमरे में घूमता रहता।

और एक साँझ जब वसन्त-ऋतु अपने यौवन पर थी, साँझ ही से पूर्णमासी का सूर्य जितना बड़ा चाँद बस्ती के नीम की शाखाओं के पीछे से झाँक उठा था और वह काम-काज निबटा कर अपने कमरे में गई थी कि सहसा कवि की पद-चाप बढ़ कर उसकी चौखट तक पहुँच गई और मधुर-स्वर उसके कानों में रस उँडेलने लगा—"रजवा मन चाहता है यमुना पर चलें। कितनी सुन्दर रात है! तुम्हें आपत्ति तो नहीं।"

रजवा का अंग-अंग पुलकित हो उठा था। उसने उत्तर न दिया, किन्तु नीम के पीछे से निकलने वाले चाँद की पवित्र चाँदनी जैसी स्मिति उसके ओठों पर फैल गई और वह उठ कर चलने की तैयारी करने लगी।

चाँदनी रात थी। यमुना का शीतल तट था। पानी में दूर तक चाँद का प्रतिबिम्ब नदी की लहरों पर सांध्य-समीर के झोकों से लहरा उठता था। नाव किनारे पर मौन खड़ी थी। वह थी, कवि था और रजवा का हृदय सहसा घट उठने वाली किसी सुखद घटना की सम्भावना से धक-धक कर रहा था। किन्तु कवि मन्त्र-मुग्ध सा जैसे उस एकान्त, उस सौन्दर्य, उस स्वतन्त्र उजले-धुले-पवित्र वातावरण को पी सा रहा था। उसकी प्यास जैसे अमिट थी। अघाती ही न थी। रजवा के मन में झुँझलाहट सी होने लगी। तभी कवि उसकी ओर मुड़ा। रजवा का हृदय धक-धक कर उठा।

किन्तु कवि ने केवल इतना कहा, "रजवा तुम्हें गाना आता है!"

कुछ क्षण रजवा मौन रही। उसे लगा कि शीतल बयार चल रही है। कि नदी की लहरों में चाँद झिलमिला रहा है। कि दूर सामने के तट पर कोयल बोल रही है। फिर वह सम्हल गई और उसने कहा, "मेरा गाना क्या, यों ही कुछ गुनगुना लेती हूँ।"

"कुछ गाओ !"

रजवा के मन का सन्ताप मिट गया। कितना अनुनय था कवि के इस मधुर, मद भरे स्वर में ! इतने कोमल, सरस अनुरोध पर वह गाते-गाते भोर कर सकती थी और वह गाने लगी—मीरा का गीत।

"मैं तो दरद दिवानी—मेरा दरद न जाने कोय !"

वह गाते-गाते तन्मय हो गई और कवि सुनते-सुनते, किन्तु कवि का उद्देश्य जैसे तन्मयता के अतिरिक्त और कुछ न था, क्योंकि जब वह कई गीत गा चुकी और कवि जी भर रात का सौन्दर्य पान कर चुका तो वह उसे लेकर लौट आया।

रजवा यद्यपि थक गई थी, किन्तु जब वह अपने कमरे में जाकर बिस्तर पर लेटी तो उसके पलक तक भारी न हुए। असीम झुंझलाहट, क्रोध और उकताहट की मिली-जुली लहरियाँ उसके मन-सागर में हलचल मचाने लगीं। उसका सिर चकरा रहा था और कंठ सूखा जा रहा था।

"रजवा देखो मैंने कल रात के दृश्य को अमर बना दिया है।"

चाय की ट्रे मेज़ पर रखते हुए रजवा ने पलक उठा कर कवि की ओर देखा। इस बीच में वह कुछ कुछ समझ गई थी कि कविता क्या होती है। किन्तु उसकी दृष्टि में रंच-मात्र जिज्ञासा भी न जगी। व्यंग से लिपटा हुआ एक शून्य उसकी आँखों में से झाँकता रहा।

अपने आवेश में कवि ने उस शून्य की वास्तविकता को नहीं जाना। जब वह चाय को प्याले में ढालने लगी तो वह कविता सुनाने लगा।

रात के अमर सौंदर्य को, लहरों के मद-भरे नृत्य को, नदी के शीतल भीगे तट को, चाँद और चाँद जैसी सुन्दरी के सामीप्य को कवि ने शब्दों का लिबास पहना दिया था। अभिलाषा उस कविता में जागती थी, किन्तु प्रकृति की उस विस्तीर्ण-पवित्रता में वह निरर्थक, तुच्छ और हेय प्रतीत होती थी। वह चाहता था जैसे चाँद को देख रहा है, उससे प्रेरणा पा रहा है, उसी प्रकार चाँद सी उस मोहिनी को देखे, उससे दीप्ति पाये; पवित्र अमर सृजनात्मक दीप्ति! और अमर अनश्वर गीत लिखता चला जाय!

किन्तु रजवा ने जैसे कुछ नहीं सुना, कुछ नहीं समझा। एक प्रश्न—जटिल, ग्रंथिल, दुर्बोध—उसके मन में झुंझलाता रहा और जब कविता सुना कर एक विचित्र उल्लास से प्याला मुँह से लगाते हुए कवि ने कहा, "रजवा यह कविता मैंने तुम पर लिखी है। मैं चाहता हूँ, तुम सदैव मेरे पास रहो और तुमसे प्रेरणा पाकर मैं अमर गीतों का सृजन करता रहूँ।" तो रजवा के मन के प्रश्न को शब्द मिल गये।

"तो क्या तुमने मुझे केवल इसीलिए रख छोड़ा है?" उसका स्वर काँप रहा था।

कवि को सहसा इसका उत्तर न सूझा। चाय की चुस्की लेते हुए उसने केवल इतना ही कहा, "यह ठंडी हो गई है।"

परन्तु उस समय रजवा को जाने क्या हुआ? एक प्रचंड-तूफान उस के मस्तिष्क में उठा। आकृतियाँ, प्रश्न, जीवन की यथार्थ समस्याएँ—सब कुछ जैसे तृण-वत उसमें उड़ चले। उसके मस्तिष्क के आकाश पर अँधेरा छा गया। वह ट्रे हाथ में लिये हुए उठी, अपने कमरे में

जाकर उसने उसे पटक दिया और जल्दी-जल्दी वह अपने नये कपड़े उतारने लगी।

दस, पन्द्रह मिनट तक जब वह न आई तो चकित सा होकर कवि रसोईघर में पहुँचा। रजवा वहाँ न थी। वह उसके कमरे में गया। खिड़की में ट्रे रखी थी, फर्श पर कपड़े बिखरे हुए थे और उन पर पचास रुपये के नोट और कुछ पैसे बिखर रहे थे।

— ———

थकान

"आख़िर बात क्या है ? आप बोलते क्यों नहीं ?" हरि की पत्नी ने तीसरी बार उसे बुलाने का असफल-प्रयास करते हुए, उसे तनिक अपनी ओर खींच कर कहा।

हरि ने उत्तर नहीं दिया। सामने, आँगन की दीवार के साथ, वर्षों से अचल खड़े वट की ओर वह एक टक देखता रहा। उसने सिर्फ़ इतना कहा।

"तुम ज़रा चाय बना लाओ लीला, मेरी तबियत ठीक नहीं।"

"मैं अभी तैयार कर लाती हूँ चाय"—उसकी पत्नी ने निर्निमेष अपने पति के क्लान्त मुख की ओर देख कर, स्नेहार्द्र स्वर में कहा!—वह क्यों इतना दुर्बल हो गया है ? उसका मुख क्यों पीला सा पड़ गया है ? न जाने वह क्या सोच रहा है ? वट के पेड़ की निस्पन्द शाखाओं में जाने उस के कौन से अरमान अटक गये हैं !—एक लम्बी साँस लीला के अन्तस्तल को चीर कर निकल गई—वह क्यों उसके

जीवन में आ गई !—और एक विचित्र करुणा तथा सहानुभूति से भर कर अपने पति के लम्बे बिखरे बालों को सुलझाते हुए उसने सहसा उसे चूम लिया। हरि निष्प्राण सा लेटा रहा। लीला ने उसका तकिया ठीक किया और चाय बनाने चली गई।

पत्नी के उस चुम्बन से एक ठंडी सी सिहरन हरि की नस-नस में दौड़ गई। लिजलिजी छिपकली ने जैसे उसे छू लिया हो। उसकी आँखों के सामने कई ऐसे क्षण घूम गये जब उस के ओठ दूसरे ओठों से मिले थे और ठंडी सिहरन के बदले आग सी उसकी नस-नस में दौड़ उठी थी।

उसने देखा, एक छोटा सा कमरा (जो बहन ने अपने भाई की पढ़ाई के विचार से उसके लिए रिज़र्व कर दिया था) कोने की मेज़ पर करीने से चुनी हुई पुस्तकें, लाल नीली पेंसल, पास में रखे कुछ मोतिया के फूल (जो बहन पूजा के बाद भाई के लिए रख जाती थी) और पलँग—

इसी पलँग पर तकिये के सहारे आधा लेटा वह एक पुस्तक में तन्मय था—स्निग्ध कमरे में गुदगुदे बिस्तर पर लेटे-लेटे उसके मन में भी गुदगुदी सी हो रही थी। तभी उसे कुछ ध्वनि सी सुनाई दी। सामने की दीवार में एक छोटा सा ताक था, उसने देखा, उस ताक की एक ईंट हिल रही है। दूसरे क्षण किसी ने वह ईंट उठा ली। और उस झरोखे में दो चंचल आँखों ने झाँका। ज्यों ही उसने उस ओर देखा, झट से ईंट वहाँ आ गई और वह झरोखा बन्द हो गया।

यह झाँकी कई दिनों तक उसके मस्तिष्क में घूमती रही और कल्पना ही कल्पना में वह कई बार उन झाँकती हुई चंचल आँखों को देखता रहा।

फिर उसके सामने वह दिन ग्राया जब उसने ग्रपनी बहन के पास ही पड़ोस की एक लड़की को बैठे देखा। दो चँचल ग्राँखें उसकी ग्रोर उठीं। उसका दिल धक् से रह गया। ये तो वही ग्राँखें थीं—वही विद्युत की भाँति कौंद कर छिप जाने वाली ग्राँखें!—यौवन के उन उन्मद क्षणों में उसने चाहा था कि वह उस लड़की को ग्रालिङ्गन में लेकर, उसकी ठोड़ी ऊपर उठा, उसकी ग्राँखों में झाँके। ऐसे कि उस दृष्टि के भार से उसके पलक बन्द हो जायँ; वह उन बन्द पलकों को चूम ले—ऐसे कि वह स्वयं ही मन्त्र-मुग्ध कबूतरी सी उसकी गोद में ग्रा गिरे······पर वह सिर्फ नीची नज़र किये उसके पास से निकल गया था।······

उसने देखा—वट की ग्रचल शाखाग्रों में वह ईंट हिल रही है, हिलते-हिलते एक दम विलुप्त हो गई है ग्रौर वहाँ वही झरोखा बन गया है—यह झरोखा उन्हें एक दूसरे के कितना समीप ले ग्राया था। वह जैसे उन दोनों का साथी था ग्रौर उनके समस्त भेदों का साझीदार!

उनके मध्य दीवार थी—ईंट चूने की निर्मम दीवार! पर क्या यही दीवार उनके मध्य थी? इस दीवार के ग्रतिरिक्त ग्रन्य दीवारें थीं—रीति-रिवाज, जाति-पांति, ग्राचार-व्यवहार की क्रूर-कठिन दीवारें! जिन पर समाज प्रहरी बना खड़ा था·····पर यह झरोखा······

उसके सामने उस झरोखे के पार दो ग्रतृप्त ऊष्ण ग्रोठ उठे थे। जिस प्रकार समुद्र की लहर को दूर से ग्राते देख कर दिल में एक गुदगुदी सी उठती है, इस तरह उन प्यासे ग्रोठों को ग्रपने समीप ग्राते हुए देख उसका शरीर गुदगुदा उठा था। वे पतले गुलाबी ग्रोठ तनिक खुले थे, शायद कुछ कहने के लिए, पर उसने ग्रपने तपते ग्रोठ उन पर रख दिये थे।

ग्रौर ग्रभी उनके ग्रोठ मिले भी न थे कि उसका सारा शरीर

झुनझुना उठा था। एक विचित्र पुलक उसकी नस-नस में भर गया था। दीवार के साथ बिलकुल सट कर, बड़ी कठिनता से, उनके ओठ छू पाये थे। इस हल्के से स्पर्श से उसके सारे शरीर में सनसनी-सी दौड़ गई थी और उसका मन चाहा था कि इस दीवार को एक ही धक्के से तोड़ दे और उनके वक्ष भी उनके ओठों की भाँति मिल जायँ।

तब उसने सोचा था, अपनी बहन से कहेगा कि उसे तो वह लड़की पसन्द है और उसके साथ सगाई हो जाय तो उसे कोई आपत्ति न होगी। पर जीवन की नदी और उसकी उत्ताल तरंगें!······वह कहाँ से कहाँ पहुँच गया और एक बार की बिछुड़ी वह लड़की—पता भी न चला किस घाट, किस किनारे जा लगी!

एक लम्बी साँस उसके अन्तर की गहराई से निकल गई! उसने करवट बदली। सामने आँगन के एक ओर फूलों के दो गमलों के मध्य मकड़ी ने जाला बुन रखा था। एक भुनगा कहीं से उड़ता-उड़ता उस में आ फँसा। त्वरित-गति से मकड़ी उसे तारों की बेड़ियों में जकड़ने लगी। जब वह निश्चल हो गया तो अपने लम्बे-लम्बे पञ्जों में पकड़ अपना रक्त-पिपासु मुख मकड़ी ने उस पर रख दिया। वहीं लेटे-लेटे उसके सामने उस जाले पर श्वेत सिल्क की हरे किनारे की साड़ी, हरे चैक का ब्लाउज़ और हरे-श्वेत सैंडल पहने, अतीव आधुनिक वेष-भूषा में आवृत एक मँझले कद की लड़की का चित्र खिँच गया, जिसके इर्द-गिर्द कभी उसने जाल बुनने का प्रयास किया था।

वह उसके कालिज में, उसकी ही क्लास में पढ़ती थी। उसके लिए वह सदा ही दूर की वस्तु रही थी। मृग-मरीचिका सी। जिसके पीछे चाहे कितना भागा जाय, पर जो सदा दूर ही होती जाय! इसीलिए उसने कभी उसके पीछे भागने का प्रयास ही न किया था। देख कर

यदि प्यास तीव्र हो उठती, तो वह उसके पीछे भागने के बदले, रुक कर सपनों के पानी से कंठ गीला कर लेता था। पर एक दिन वह मृग-मरीचिका अचानक उसकी पहुँच में आ गई थी। दर्शन-शास्त्र की पुस्तक खोले, उसके निकट खड़ी वह कह रही थी, "कृपया, यह प्रश्न समझा दीजिए। प्रोफ़ेसर साहब ने मुझे आपके पास भेजा है।"

वह चकित सा रह गया था।

क्लास में वह दर्शन-शास्त्र का पण्डित माना जाता था। जब कभी छात्र प्रोफ़ेसर गुप्ता से कुछ पूछने जाते, वे सदैव उन्हें उसके पास भेज देते। उसकी योग्यता के कारण न केवल उसके सहपाठी वरन् उस के अध्यापक तक उसे आदर की से दृष्टि देखते।

उसने वह प्रश्न उसे भली-भाँति समझा दिया था। दूसरे के लिए दर्शन-शास्त्र की गुत्थी सुलझाने में इतनी दिलचस्पी उसने कदाचित् पहली बार ही ली थी और कदाचित् अपनी समस्त विद्वत्ता को प्रयोग में लाने का भी पहला ही अवसर उसे मिला था।

"मैं दर्शन-शास्त्र में कुछ पीछे हूँ।" प्रश्न समझने के बाद उसने कहा था, "मुझे इसमें रुचि न हो, यह बात नहीं, मैं आरम्भ ही से इसमें पीछे हूँ, यह बात भी नहीं। भाई की बीमारी के कारण मैं बहुत दिन कालेज नहीं आ सकी। इसीलिए पिछड़ गई हूँ। यदि कुछ दिन मुझे पथ-प्रदर्शन मिले तो चल निकलूँगी।"

और उसने इस कष्ट के लिए कृतज्ञता प्रकट की थी।

हरि ने उसे विश्वास दिलाया था कि जहाँ तक हो सका, वह उसकी सहायता करेगा। "मेरा रास्ता आपके घर की ओर ही से पड़ता है," उसने कहा था, "मैं संध्या को समय निकाल कर आपको थोड़ा बहुत बताने का प्रयास करूँगा। निश्चय रखिए आप क्लास के साथ ही न आ जायँगी, उसके आगे भी बढ़ जायँगी।"

और वह निरन्तर उसे पढ़ाने जाता रहा था। उसे पढ़ाने का उसे इतना ध्यान था कि छुट्टी के दिन भी उसके यहाँ चला जाता। पढ़ने और पढ़ाने वाले में जो दूरी होती है, धीरे-धीरे वह घटती गई थी। वह उसके साथ सैर, सिनेमा, तमाशे भी गया था; चाँदनी रातों के एकान्त में नीम की छिदरी छायाओं में भी घूमा था; उसके जलते ओठ उसके संकुचित पर गर्म ओठों से भी मिले थे और ऐसा आभास उसे मिला था कि शायद जीवन में इससे परे कोई सुख नहीं। अपनी विद्वत्ता, योग्यता तथा सहृदयता के सहारे वह बड़े कौशल से उसके इर्द-गिर्द जाल बुनता जा रहा था। पर न जाने तारों में कौन सी कमज़ोरी रह गई थी कि वह उसके जाल में आकर भी निकल गई। कुछ दिन बाद उसने सुना कि वह एयर-फ़ोर्स के एक ऊँचे पदाधिकारी की पत्नी बन कर जा रही है।

एक दीर्घ-निश्वास उसके अन्तर से निकल गया। पर जाल वही बुनता रहा हो, ऐसी बात न थी। उसके गिर्द भी जाल बुना गया था।

"आपके इस अनुग्रह के लिए मैं आभारी हूँ—आशा है आप इसी तरह हमारा उत्साह बढ़ाते रहेंगे।"

निस्बत रोड़ के एक प्राइवेट स्कूल में वह छात्राओं की निबन्ध-कला पर भाषण देने के बाद मस्तक का पसीना पोंछ रहा था कि उसके कानों में उसकी मादक-ध्वनि ने रस उँडेला। उसका गेहुँआ रंग कुछ क्षणों के लिए लाल हो गया था और क्षण भर हरि की ओर देख कर उसकी आँखें झुक गई थीं।

वह उस पाठशाला की मुख्याध्यापिका थी और यही उनकी पहली भेंट थी। धन्यवाद का उत्तर देकर तथा आवश्यकता पड़ने पर फिर

सेवा के लिए उपस्थित होने का वादा करके वह चला आया था। वह उसे भली-प्रकार देख भी न पाया था। और जब एक दिन वह उसके घर आ पहुँची थी तो उसे आश्चर्य भी हुआ था। पर तब वह उससे अच्छी तरह मिला था और उसी दिन वह उसे अच्छी तरह देख भी सका था—गेहुँआ चमकता रंग, सुगठित-सुकोमल देह, पतले गुलाबी ओठ......पर उस की आँखें.....उनमें एक कुछ छोटी थी और इसी कारण वह सुन्दर होने पर भी कभी-कभी उसे असुन्दर लगती थी—वह तीन चार घंटे ठहरी थी। इस बीच में वह कई बार उसे सुन्दर और कई बार असुन्दर लगी थी। वह अपने मन में सोचता रहा कि यदि इसकी आँखें भी सुन्दर होतीं.....यदि दोनों छोटी ही होतीं, या दोनों बड़ी-बड़ी होतीं........और वह उसे पसन्द न कर सका था। हाँ, उसके मन में उसके प्रति कुछ स्नेह-भाव अवश्य उत्पन्न हो गया था। पर तब अपने भावों का विश्लेषण वह न कर सका था।

उसके बाद वह प्रायः हरि के पास आने लगी थी—पहले-पहल कोई न कोई बहाना करके और फिर केवल मिलने के लिए ही। यहाँ तक कि वह आती तो घंटों बैठी रहती। हरि की भाभी, बहन और माँ से भी उसने घर का-सा नाता बना लिया था और वे उसे नापसन्द न करतीं थीं।

घंटों बैठी वह इधर-उधर की बातें करती रहती और यद्यपि उसने कभी यह न कहा था कि वह हरि को चाहती है या प्यार करती है, पर उसकी दृष्टि और उस दृष्टि के प्रत्येक कम्पन से स्पष्ट प्रतीत होता था कि वह हरि को अपना सर्वस्व समर्पण कर चुकी है।

हरि की हर बात का वह ध्यान रखती। उसकी आवश्यकता की चीज़ों, उसके कपड़ों, उसके स्वास्थ्य, सभी की चिन्ता करती। आती तो हरि की मेज़ पर बिखरी हुई चीज़ों को ढङ्ग से सजाने लगती, उसके

बक्स में पड़े कपड़ों को देखती, बटन टाँक देती, सी देती। मानो उससे पहले हरि का कमरा कभी सजा-सँवरा ही न था और वह बिना बटन के फटी कमीज़ें ही पहनता था और सदैव बीमार रहता था।

एक दिन उसने देखा कि हरि के कमरे की गद्दियाँ फट सी गई हैं। तीसरे ही दिन सुन्दर से कपड़े की बनी पूरी दस गद्दियाँ उसके सोफ़े और कुर्सियों की शोभा बढ़ाने लगीं। फिर हरि के ट्रंक में थोड़े कपड़े देख कर वह उसके लिए कई कमीज़ों का कपड़ा ले आई। हरि कभी-कभी धोती बड़े चाव से पहनता था। इसीलिए शान्तिपुर की बारीक किनारे की दो धोतियाँ भी लाना वह न भूली। हरि ने उसे मना किया। समझाया कि वृथा रुपया नष्ट न करना चाहिए। बताया कि उसके पास कपड़े तो बहुत हैं, धोबी के पास होंगे। पर वह न मानी थी। सब कपड़े उसके ट्रंक में रख गई थी। इस पर हरि की भाभी ने हँस कर कहा था, "तुम्हें तो सोने की चिड़िया मिल गई हरि, नयी गद्दियाँ, नये कपड़े....!" वह और कुछ कहती, पर हरि हँसता हुआ बाहर निकल गया था।

ये सब बातें हरि को उसके समीप ले आई थीं और उनमें कोई भेद-भाव न रहा था। एक ही चारपाई पर वे इकट्ठे बैठे-लेटे और सोये। उनके वक्ष और ओठ भी मिले और उनकी सन्निकटता समाज की बनाई सीमा को पार करते-करते लौट आई। कई बार आवेग के क्षण में उस ने एक ही बार उस सीमा को लाँघ भी जाना चाहा था.......पर वह उसको पत्नी के रूप में न लेना चाहता था। वह उससे घृणा करता हो, यह बात न थी, पर उसका प्रेम उसके अपने अहम् की पूर्ति तक ही सीमित था। वह उसे इतना चाहती है—इस बात से वह प्रसन्न था और उसके पहले असफल प्रेम ने उसके हृदय में जो घाव लगाये थे, इस प्रेम से उन्हें ठंडक पहुँचती थी। उसका हृदय गर्व से फूल उठता

था और अपने अहम् की तृप्ति के इस साधन को वह बनाये रखना चाहता था......किन्तु जाल धीरे-धीरे उसे जकड़ रहा था। वह जैसे भी हो उसे अपने जाल में फाँस लेना चाहती थी। ऐसे कि फिर वह किसी प्रकार निकल न सके। इसके लिए वह सब तरह से तैयार थी—विवाह से पहले माँ बनने के लिए भी।.....और हरि घबरा उठा था.....इस सन्निधि का परिणाम !....यदि वह इस दम घोंटने वाले जाल में सचमुच फँस गया और बाहर निकलने का कोई मार्ग न ढूढ पाया......कहीं इस जाल के तारों में उलझ गया तो....

तभी हड़बड़ा कर एक दिन उसने अपने बड़े भाई से कहा कि उसका विवाह कर दिया जाय और शीघ्र ही कर दिया जाय। उससे नहीं। कहीं और। किसी सुन्दर सुशिक्षित लड़की के साथ !

और कुछ दिन बाद ही उसके भाई ने उसकी सगाई पक्की कर दी थी। उसकी बहन तथा भाभी ने बताया कि लड़की बेहद सुन्दर है। सुशिक्षित, सुसंस्कृत है। यह भी कहा था कि उस लड़की का एक-एक अंग जैसे साँचे से ढल कर बना है और उसमें ऐसी मोहिनी है कि मन आपसे आप खिंचा चला जाता है। यह सब जान कर वह प्रसन्न था। उसका मन अपने भाई, बहन तथा भाभी के प्रति कृतज्ञता से भर गया था।

"लीजिए" उसकी पत्नी ने चाय का प्याला उसकी ओर बढ़ा दिया।

उस ने धीरे से उठ कर प्याला थाम लिया। विचारों का क्रम जारी रहा।

उसके सामने गाड़ी का एक सैकेंड क्लास का डिब्बा आ गया। उसके साथ सीट पर झिलमिलाते लाल वस्त्रों में आवृत्त सिकुड़ी और

लजाई नव-वधू बैठी थी। सामने की सीट पर एक मोटी थलथल पिल-पिल महरी नव-वधू की ओर स्नेह-सिक्त दृष्टि से देख रही थी। हरि चुप-चाप बैठा सोच रहा था कि किस प्रकार उन सुन्दर वस्त्रों में आवृत्त सुन्दरी को देखे। उसका मन बेतरह उतावला हो रहा था। पर वह काली मोटी महरी....उसके मनमें आया कि उससे कह दे, दूसरी तरफ़ बैठ जाओ! पर....सहसा स्टेशन आ गया और गाड़ी रुकी तो वह महरी दूसरी ओर खिड़की में चली गई। सम्भवतः उसने हरि की भाव-भंगी से कुछ जान लिया हो। यद्यपि सन्ध्या का अंधकार गहरा हो गया था, बाहर कहीं इक्के-दुक्के वृक्ष अथवा बिजली के खंभों के सिवा कुछ और दिखाई न देता था, पर महरी अपने भारी शरीर को लगभग आधा बाहर किये निरन्तर बैठी रही, मानो उस मनोरम दृश्य से उसकी निगाहें हटने का नाम न लेती हों!

अब हरि और न रह सका। उसने अपनी पत्नी का घूँघट उठा दिया—घर वालों से उसकी सुन्दरता की बातें सुन-सुन कर वह उसे देखने व पाने को अत्यन्त आतुर था। उसके मन-मस्तिष्क पर नीना, कान्ता, शीला, रमा और न जाने किस-किस की सुन्दरता से मिला-जुला एक अत्यन्त सुन्दर चित्र बन गया था। इस चित्र के सामने उन सबके चित्र धुँधले पड़ गये थे और उन्हें पाने की असफलता उसे ज़रा भी न खटकती थी। वह तो प्रसन्न था कि अच्छा ही हुआ जो उसका विवाह यहाँ हो रहा है। यह तो उन सब को मात कर देगी पर....उसकी दृष्टि नव-वधू की लम्बी नाक पर पड़ी, वह सन्न सा रह गया। उसकी पत्नी की बटनों जैसी आँखें निमिष मात्र के लिए उठीं और हरि की आँखों से मिल गईं। सन्ध्या के गहरे अँधेरे में उसका रंग भी साँवला सा लगा। सहसा घूँघट उसके हाथ से छूट गया और उसे ऐसा अनुभव

हुआ जैसे गाड़ी थम गई है—गाड़ी क्या, समस्त जीवन की गति जैसे थम गई है—और अब उसमें कभी हरकत पैदा न होगी।

एक मरुस्थल सा उसके सामने आया—विशाल विस्तीर्ण मरुस्थल ! वह कब से इसमें भटकता आ रहा है पर उसे कहीं भी ऐसा स्थल नहीं मिला जिसकी हरियाली से उसकी आँखें ठंडी हो जायँ। और अभी इसका कुछ अन्त ही नहीं.....

एक लम्बी साँस उसके अन्तर की गहराइयों से निकल गई !

चाय की प्याली ख़त्म हो गई थी। उसने चुपचाप उसे पास बैठी अपनी पत्नी की ओर बढ़ा दिया। उसकी पत्नी ने खाली प्याली मेज़ पर रखते हुए पूछा :

"क्या आपकी तबीयत बहुत ख़राब है ?" और सहानुभूति से ओत-प्रोत होकर, स्नेह के आवेग से उसने हरि के बालों में अपनी उंगलियों से कंघी करते हुए उसे एक बार फिर चूम लिया।

——

निम्मो

१९४२ के अगस्त में जब भारत के आकाश में कांग्रेस के सम्भावित प्रस्ताव और उसके सम्बन्ध में सरकार की सम्भावित नीति के कारण अशान्ति की छाया मँडरा रही थी, कोहाट के एक दूरस्थ सैनिक कैम्प में बैठे हुए एक युवा सैनिक के मन की दुनिया पर भी अशान्ति के बादल घिर आये थे और जब बड़े-बड़े नेता देश के भावी जीवन की समस्या सुलझाने में निमग्न थे, वह अपने जीवन की भावी उलझनों को सुलझाने के असफल प्रयास में व्यस्त था।

उस समय जब शायद कांग्रेस का प्रस्ताव लिखा जा रहा था, वह अपने पत्रों का वह क्रम आरम्भ कर रहा था जिसने उसके मन की दुनिया में उसी प्रकार हलचल मचा दी, जिस प्रकार ६ अगस्त के प्रस्ताव ने समस्त देश भर में।

कोहाट

प्रिय निम्मो,

सहसा इस कल्पनातीत स्थान से मेरा पत्र पाकर तुम चकित हो जाओगी, किन्तु इतनी दूर चले आने का साहस मैंने किस प्रकार किया, इस बात पर मैं स्वयं हैरान हूँ।

उस दिन एक ज़रा-सी बात पर तुम मुझसे नाराज़ हो गईं। नाराज़ तो पहले भी कई बार तुम हुई हो, किन्तु उस दिन तुम्हारी वाणी में ऐसी कटुता थी जो मेरे हृदय को भेदती हुई चली गई। तुम्हारी वाणी के उस तीर ने जैसे मेरे पाँव उखाड़ दिये और वह मेरे हृदय को बेध कर अपने पूरे वेग से मुझे यहाँ उड़ा लाया। उस क्षण जब तुमने मेरे सरल स्वाभाविक व्यवहार पर इतने कटु शब्द कह डाले, तो मन ऐसा उचाट हुआ कि महज़ तुम्हारी आँखों से दूर होने पर ही न माना, वरन् जिस नगर में तुम रहती हो, वहाँ रहना भी उसके लिए दुष्कर हो गया। तुम्हारे उन कटु वाक्यों ने मेरे मन के न जाने किन स्तरों में सोई हुई आँधी को जगा दिया और अब, जब आँधी का वेग शान्त हो गया है, मैं अपने आपको तुम से योजनों दूर यहाँ पा रहा हूँ।

सोचता हूँ—क्या जो तुमने उस दिन कहा था, वह तुम्हारे अन्तर की आवाज़ थी? विचार करता हूँ तो पाता हूँ कि वह सब तो केवल तुम्हारे रूढ़ि-ग्रस्त-मस्तिष्क का तर्क-वितर्क था, जो तुम्हारे हृदय की सरिता के नैसर्गिक प्रवाह को प्रायः रोक दिया करता है। अपने मानस के नैसर्गिक प्रवाह को तुम अपनी रूढ़ियों से जकड़ी हुई बुद्धि से रोकना चाहती हो। जब ऐसा करने में असफल रहती हो तो खीझ उठती हो' यद्यपि मन में तुम मेरे विचारों से सहमत हो; वैसा ही अनुभव करती हो; वैसा ही करना चाहती हो; मेरी सभी बातों को ठीक समझती हो।

परन्तु ऊपर से कभी नहीं मानतीं। तुम साहस बटोरती हो, पंख तोलती हो, चाहती हो कि एक ही उड़ान में, आकाश में स्वच्छन्द होकर मेरे संग उड़ पाओ। किन्तु तुम्हारी बुद्धि के पाँवों में पड़ी हुई संस्कारों और रूढ़ियों की बेड़ियाँ तुम्हें सहसा रोक लेती हैं। घरवालों का, दुनिया का सामना करने की हिम्मत तुम में नहीं होती और जो थोड़ा-बहुत साहस बटोरती हो, वह तुम्हारा साथ छोड़ जाता है।

मैं स्पष्टवादी हूँ और मुझे यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं कि मैं जीवन में विश्वास रखता हूँ। जी भर उसे जीना चाहता हूँ। जीवन के प्याले की तलछट तक पी जाना चाहता हूँ। तुम जीवन की उपेक्षा करती हो और इस उपेक्षा पर कुढ़ती हो। इसीसे मैं अपनी समस्त चेष्टाओं के बावजूद तुम्हें प्रसन्न करने में असमर्थ रहा हूँ।

मैंने सोचा था—अब तुम्हें कभी पत्र लिख कर तंग न करूँगा, पर अब जब उन समस्त बीते दिनों को याद करता हूँ तो न केवल यहाँ भाग आने पर दुख होता है, वरन् इतनी देर तक पत्र न लिखने के खेद से मन अकुला जाता है। सैनिक जीवन में उतना अवकाश नहीं। वास्तव में यह सैनिक जीवन की व्यस्तता ही थी जिसने मेरे उन हताश क्षणों में मुझे अपनी ओर खींचा। काम करने से मैं डरता नहीं, किन्तु मैं काम के कारण ही व्यस्त न रहना चाहता था। व्यस्त मैं रहना चाहता था शान्ति के लिए—मानसिक शान्ति के लिए! वह भी इतना कि मुझे अतीत की मधु-विष-मिश्रित स्मृतियों में से कोई भी आकर न सताये।

पर निम्मो, मैं असफल रहा हूँ। यदि सैनिक जीवन वैसा ही होता जैसा कि मेरी कल्पना में था, तो मैं कब का तुम्हें भूल चुका होता और पत्र लिखने की नौबत न आती। व्यस्त तो यह जीवन है, किन्तु इस व्यस्तता में भी एक अवकाश-सा रहता है, जिसमें सदा भूत, भविष्य और वर्तमान के चित्र बन-बनकर मिटते रहते हैं और इस समस्त व्यस्तता

के बावजूद मनुष्य विस्मृति का शिकार बनने की अपेक्षा अधिकाधिक चैतन्य रहता है।

सैनिक कठोर जीवन व्यतीत करते हैं, किन्तु जहाँ तक मैंने उन्हें जाना है, वे मन को कठोर नहीं बना पाते। उनके कृत्यों पर, कर्मों पर, कठोरता और क्रूरता का अभेद्य-आवरण चढ़ा रहता है, किन्तु यदि उस आवरण को हटाकर कहीं उनके अन्तर को टटोला जाय तो मानव-सुलभ वेदना-व्यथा सुख-दुख कहीं न कहीं सिकुड़े-दबे अवश्य मिल जायँगे। मौत और खून की होली खेलने वाले, बाहर से क्रूर और निर्मम दिखाई देने वाले सैनिक प्रायः अपने वक्ष में साधारण लोगों ही सा कोमल हृदय रखते हैं। उस हृदय में अरमान और उन अरमानों में दर्द भी होता है; और उनकी आँखों के आँसू भी युद्ध के आतप से सूख नहीं जाते। सैनिक जीवन की इन दुर्बलताओं और भावनाओं की वास्तविक अनुभूति मुझे यहाँ आकर मिली है और इसी कारण जिस उद्देश्य को लक्ष्य करके मैंने यह जीवन अपनाया था, उसे पूरा करने में मैं अपने को सर्वथा असमर्थ-सा पा रहा हूँ। अब जब मैं इन सब बातों पर विचार करता हूँ तो मन बरबस तुमसे यह सब कुछ कह देने को आतुर हो रहा है।

निम्मो, तुम व्यर्थ ही अपने आपसे युद्ध कर रही हो, मैं व्यर्थ ही अपने आपसे भाग रहा हूँ। क्यों न हम अपनी नैसर्गिक भावनाओं पर से बन्धन उठा लें। उन्हें स्वाभाविक रूप से एक-दूसरे से मिल जाने दें? तुम मुझ से कन्नी न काटो, मैं तुमसे दूर न भागूँ। मिथ्या रूढ़ियों को मिटाते हुए हम नये मार्ग बनायँ, नये संसार का सृजन करें?

आती बार मैं तुमसे विदा भी न ले सका। मैं जानता हूँ तुम मुझे कभी भी न आने देतीं। चाहे तुम मुझे स्वीकार न करतीं, चाहे तुम्हारे संस्कार और झूठे बन्धन (जिनसे तुमने अपने आपको जकड़ रखा

है) तुम्हें मुझको स्वीकार करने की आज्ञा न देते, पर मुझे यों तज देना भी तुम्हें गवारा न होता।

इस समय मैं बड़ा व्यथित हूँ निम्मो, मुझे आशा है तुम मुझे उत्तर देकर मेरी इस व्यथा को हल्का कर दोगी।

प्यार से तुम्हारा
जुगल

कोहाट

निम्मो,

कुछ दिन हुए मैंने तुम्हें एक लम्बा पत्र लिखा था, मुझे आशा थी तुम्हारा उत्तर वापसी डाक से आयेगा। सोचा था, तुम्हें मेरा इस प्रकार चला आना बुरा लगा होगा; तुम्हें मेरे पत्र की प्रतीक्षा होगी; तुम्हें उस दिन की घटना का दुख होगा और मेरा पत्र पाते ही तुम उत्तर दोगी। किन्तु मालूम होता है कि अपने हृदय को पत्थर बनाने का अभ्यास तुमने पर्याप्त रूप में कर लिया है। शायद मैं अब तक तुम्हें ग़लत समझता रहा हूँ। उत्तर देना तो मात्र शिष्टता का चिन्ह है निम्मो, और इतनी सभ्य होकर भी तुम ऐसा नहीं कर सकीं, इसका मुझे दुख है।

लाहौर की भीड़-भाड़ और शोर-गुल में से आकर यह जीवन एकदम शुष्क और निस्तब्ध-सा लगता है। यहाँ का समस्त वातावरण विरस और दम घोंटनेवाला है। यहाँ एक तरह का 'आफ़ीशलडम' छाया रहता है, अफ़सर अपने आपको अफ़सर साबित करने में कोई कोर-कसर नहीं उठा रखते और जो साथी हैं, वे बौद्धिकता से एकदम शून्य हैं। उन की दिलचस्पियों का घेरा अत्यन्त परिमित है—औरत, शराब और जुआ

बस इन्हीं तीन विन्दुओं के गिर्द वे घूमते रहते हैं। अकसर मेरा दम इस क़दर घुटने लगता है कि चाहता हूँ एक ही बार इस सारे वातावरण से दूर भाग जाऊँ। पर कहाँ? जब यह सोचता हूँ तो चुपचाप बैठ जाता हूँ—उस झाग की तरह जो उबाल के साथ-साथ उठती है, किन्तु पानी का छींटा लगते ही चुप हो फिर बैठ जाती है।

साधारणतः हम दिन भर अपने खेमों में काम करते हैं। शाम ही को बाहर निकल पाते हैं। पर शनि और इतवार तो हमारे अपने ही दिन होते हैं। इन दिनों हम प्रायः पाँच बजे तैयार हो जाते हैं और फिर आधी रात से पहले बिस्तर देवता के दर्शन नहीं होते। यह तो साधारण शनि और इतवार की रातों का ज़िक्र है, पर यहाँ 'गैस्ट नाइट्स' (अतिथि-रात्रियाँ) भी होती हैं और उन रातों को यदि कोई रात के तीन बजे तक लौट आये तो उसे भाग्यवान् समझना चाहिए।

सप्ताह में एक बार, बुध के दिन 'गैस्ट नाइट' होती है। इसे 'बैंड नाइट' भी कहते हैं, क्योंकि रात का खाना खाते समय निरन्तर बैंड बजता रहता है। हमारा कर्नल उन रातों हमारे साथ सम्मिलित होता है और खूबी यह है कि वह जी भर पीता है, बातें करने का एकाधिकार भी वह अपना ही समझता है और हम सब चुपचाप मुँह बाये बैठे सुनते रहते हैं और कभी प्रशंसा के रूप में दाँत निपोड़ देते हैं।

खाने के बाद सब सम्राट् के स्वास्थ्य का जाम चढ़ाते हैं—चार प्रकार के पेय सब के सामने आते हैं—पहले पोर्ट, फिर मडीरा, फिर ह्विस्की और अन्त में पानी—जिसको जो पसन्द हो वह उसे चुन लेता है। जब सब के हाथों में पेय आ जाता है तो प्रधान उपप्रधान को सम्बोधित करते हुए उठता है और कहता है—"वाइस दि किंग!" उपप्रधान हम सबको सम्बोधित करके 'जेन्टलमेन दि किंग' कहकर उठ खड़ा होता है। फिर हम सब खड़े हो जाते हैं और क्षणों में हमारे गिलास

एक-दूसरे से टकराकर खाली हो जाते हैं। लगभग तीन बजे कर्नल लोट जाता है और फिर हमारी यह सभा भी भङ्ग हो जाती है।

हाँ, एक बात तो मैं भूल ही गया। मेरे एक मित्र का विवाह है और मैं उसकी पत्नी को एक अच्छा-सा उपहार भेजना चाहता हूँ। यहाँ पर चीज़ें अच्छी नहीं मिलतीं और न ही उतनी विभिन्नता यहाँ हो सकती है जितनी कि लाहौर में। इसके अतिरिक्त यदि तुम चुन दोगी तो मुझे तसल्ली हो जायगी कि चीज़ अच्छी है। न जाने मैं क्यों तुम पर इतना निर्भर रहने लग गया हूँ ? क्या तुम मेरा इतना काम कर दोगी ? मैंने सोना था कि स्वयं विवाह पर आऊँगा, उस दशा में तुम्हें यह कष्ट न देता, पर अब मैंने आने का विचार छोड़ दिया है। चन्द दिनों के लिए इतना व्यय होगा। मुझे व्यय की तो चिन्ता नहीं, पर मुसीबत तो यह है कि लाहौर में मेरा आकर्षण-केन्द्र वास्तव में तुम्हारे सिवा कोई नहीं है और यदि लाहौर आकर तुम्हीं से न मिल पाया तो निराशा, विषाद और आत्म-ग्लानि के अतिरिक्त कुछ हाथ न आयगा ! तुम्हारा क्या विचार है ! इस विवाह पर आऊँ अथवा अपने एकाकीपन को लिये हुए यहीं हताश पड़ा रहूँ ?

तुम जानती हो मुझे शराब से कितनी घृणा है, आजकल जो जीवन मैं व्यतीत कर रहा हूँ, वह भी मुझे रुचिकर नहीं, और चन्द दिन के लिए इस जीवन से छुट्टी पाकर मैं कितना प्रसन्न हूँगा, तुम अनुमान लगा ही सकती हो। यदि तुम कहो तो मैं चला आऊँ। मुझे लौटती डाक से उत्तर देना ताकि मैं छुट्टी का प्रबन्ध कर सकूँ।

यदि तुम इतनी दया न कर सको तो कोई उपहार ख़रीद कर भेज दो। यदि तुम दोनों में से एक बात भी न कर सको तो मैं यही कहूँगा कि परमात्मा तुम्हें सुमति दें।

सस्नेह
तुम्हारा दर्शनाभिलाषी
जुगल

दो धारा

लैखार्ट

प्रिय निम्मो,

कोहाट में इतनी गर्मी थी कि मनुष्य पिघला-सा जाता था। तुम सम्भवतः अपने ठंडे प्यारे कमरे में, पंखे के नीचे इसका अनुमान न लगा सको। इसी गर्मी के कारण अब हम यहाँ आ गये हैं। यह पहाड़ी स्थान है और यहाँ आने पर ऐसा प्रतीत होता है जैसे किसी जलती, तपती भट्ठी से बाहर निकल आये हों। शरीर का ताप तो मिट ही गया है निम्मो, पर मन का ताप नहीं मिटा।

सैनिक इस छोटे से स्थान का भी पूरा लाभ उठाते हैं, खेलों की यहाँ बड़ी सुविधा है—टैनिस, फुटबाल, बास्केट बाल, बैडमिन्टन आदि सभी खेलों का प्रबन्ध है और इस मन के ताप को भुलाने के लिए मैं प्रायः सभी में भाग लेता हूँ। शराब की पार्टियाँ होती ही रहती हैं। हमारे अफ़सर, उनकी पत्नियाँ और मित्र सम्मिलित होते हैं और बहुत देर तक बातें होती रहती हैं। एक सिनेमा भी है जिस में सप्ताह में एक बार मौन-चित्र दिखाये जाते हैं। १५-२० वर्ष पुराने चित्र देख कर पुरानी स्मृतियाँ आँखों के सामने घूम जाती हैं, ठीक इन्हीं चित्रों की भाँति निर्मम और मूक!

यहाँ बिजली का एक कारखाना भी है—तारों का जाल-सा फैला हुआ है और इसीसे लोगों को बिजली पहुँचाई जाती है, किन्तु हमारे कैम्प में किसी निराश विरही के अरमानों की भाँति, धीरे-धीरे जलने वाले, किरासिन-लैम्प ही जलते हैं।

थोड़े ही अन्तर पर आज़ाद क़बीलों के लोग रहते हैं। हमें अकेले बाहर जाने की मनाही है। इस स्थान से होकर एक सड़क जाती है जिसके उत्तर में कबीले के लोग और दक्षिण में ब्रिटिश इण्डिया है। यद्यपि

ये लोग इतने भयानक नहीं हैं जितने बन्नू के आस-पास के लोग, किन्तु अवसर पाकर कभी वार करने से नहीं चूकते। दो दिन पहले हमारे कुछ साथी बाहर गये थे, वे कठिनता से चार सौ गज़ गये होंगे कि उन्होंने गोलियाँ चला दीं। हम लोग इस बात को दबा ही गये। तुम्हें तो मिस बकाया ने बहुत-सी बातें बन्नू के विषय में बताई थीं।

एक बात मैं बहुत देर से सोचता रहा हूँ और वह यह है कि तुम्हें हेड-मिस्ट्रेट किसने बना दिया—इतनी असभ्य हेड-मिस्ट्रेट—जो उत्तर देने तक का शिष्टाचार नहीं जानती या जान कर भी व्यवहार में नहीं लाती। यदि मैं स्कूलों का इन्स्पेक्टर होता तो तुम अब तक कभी की घर बैठी होतीं—सम्भवतः एक पति की पत्नी और कुछ बच्चों की माँ बन कर!

तुम मुझे प्यार करती हो, यह तो तुम मेरे सामने मान ही चुकी हो। तुम न भी मानो तो यह बात छिपी नहीं रह सकती। फिर यह हठ कैसा? अपने आपसे न लड़ो निम्मो! इतनी मत तनो! कहो, कुछ तो कहो, इस तरह चुप मत हो जाओ!

तुम्हें याद होगा, एक बार मैं यू० टी० सी० से थक कर आया था। तुम्हारे कमरे में, तुम्हारे बिस्तर पर लेट गया था। तुम्हें शायद मुझ पर दया आ गई, झट से तुम चाय तैयार कर लाईं। बड़े स्नेह से तुमने मुझे चाय बना कर दी। उस समय ऐसा लगता था जैसे तुम मेरे और अपने बीच के अन्तर को भूल गई हो। ऐसा लगता था जैसे अनन्त काल से ही हम इकट्ठे चले आ रहे हैं और हम एक-दूसरे के स्नेह में बँध जाने ही को बने हैं। उस शाम तुम मुझे मूर्तिमान स्नेह लगीं! मैं अभी तक तुम्हारी वह आकृति नहीं भूल सका और उसी दिन मैंने निश्चय कर लिया था कि तुम्हीं मेरे घर की रानी बनोगी और तुम्हारी स्नेह-छाया में ही मैं सच्ची शान्ति पा सकूँगा। तुम मुझे चाय बनाकर दे ही रही थीं

कि सहसा तुम्हारे चचा उधर आ निकले। मुझे देखकर उनका चेहरा क्रोध से लाल हो गया, आँखें अँगारा बन गईं और ओठ कुछ कहने को फड़फड़ा उठे, पर सबके सामने वे क्या कहते? उन्हें भाई साहब का लिहाज आ गया होगा। फिर तुम्हारी सहेली कान्ता भी तो वहीं थी। मेरे जाने के बाद उन्होंने तुम्हें खूब कोसा था। साथ ही बेचारी कान्ता भी पिस गई थी। तुमने कई दिन खाना न खाया था और घर तक छोड़ने को तैयार हो गई थीं—क्या वह प्यार न था?

इसके बाद तुमने मुझसे वाटिका में मिलना आरम्भ कर दिया था। अपने चचा से झगड़ा होने के बाद, जब तुम पहली बार वाटिका में आई थीं—वट की घनी छाया के नीचे, उस लाल पत्थर पर बैठ कर अपना सिर तुमने मेरी गोद में रख कर कहा था—"दुनिया वाले तो अब जीने भी न देंगे, यही सोच-सोचकर मेरा दिमाग़ परेशान हो गया है। तुम मेरे सिर को थाम लो, अपने दोनों हाथों में, ज़ोर से!" और फिर तुमने कहा था—"अब तो कहीं दूर भाग जाने को मन होता है!" और तुमने अपने आप को मेरी गोद में ढीला छोड़ दिया था और मैंने तुम्हें चूम भी लिया था। तुम्हारी आँखें बन्द थीं, तुम्हारे बड़े-बड़े पलक कमल की पत्तियों की भाँति उन पर छाये हुए थे, तुम्हारे ओठ मेरे ओठों से सटे हुए थे।......और घरवालों के विरोध के बावजूद तुम प्राय: सैर के बहाने वाटिका में आ जाया करती थीं। वट की छितरी चाँदनी में तुम सुध-बुध खोकर मेरे बाहुपाश में बँध जाती थीं और उस शीतल चाँदनी में हमारे गर्म-जिस्म और गर्म ओठ एक दूसरे से सट जाते थे। क्या तुम इन बातों को भूल सकती हो, निम्मो? क्या वह भी प्यार न था?

तुम्हारे कमरे का जो दरवाज़ा वाटिका में खुलता है, उसका वहाँ होना तुम्हें इतना अखरता था कि तुमने अपनी ड्रेसिंग टेबल उसके

आगे रख कर स्थायी रूप से उसे बन्द कर दिया था। उस दिन रात को जब मैं उस दरवाज़े पर आ खड़ा हुआ तो झट से तुमने ड्रेसिंग टेबल हटा कर मुझे भीतर खींच लिया था। मैं पूछता हूँ निम्मो, तुम्हारी कोमल बाँहों में कहाँ से इतना बल आ गया था ? और तुम्हारा चेहरा इतना लाल क्यों हो गया था ? उस समय तुम्हारी झुकी हुई आँखों की पलकें और आगे से मुड़ी हुई लम्बी बरौनियाँ इस समय भी मेरे सामने घूम-घूम जाती हैं। और फिर तुमने मुक्त कण्ठ से वहाँ दरवाज़ा बनाने-वाले की बुद्धि की प्रशंसा की थी। दूसरा दरवाज़ा भी तुमने भीतर से बन्द कर लिया था। बाहर से आवाज़ आई थी—"अभी तो भूख भूख चिल्ला रही थी, अब खाना परोसा है तो जाने किस काम में लग गई है। अब आओ भी निम्मो, खाना पड़ा ठण्डा हो रहा है!" यह आवाज़ तुम्हारी माता जी की थी। "कपड़े बदल रही हूँ माँ! मेरा खाना रख दो, थोड़ी देर में खा लूंगी!" तुमने उत्तर दिया था—और फिर मेरा हाथ थामते हुए हँस कर कहा था—"इन्हें क्या मालूम कि मैं कितना ज़रूरी काम कर रही हूँ ?" मेरे साथ पलँग पर लेटे-लेटे जाने तुम कितनी देर बातें करती रहीं ! कितने वादे लिये और दिये थे तुमने ? इस प्रकार चोरी से मिलने का साहस कैसे कर लिया था तुमने ? और इसका अभिप्राय क्या था ? क्या वह अभिसार भी प्यार न था ?

मैं तुम्हें पहले भी समझा चुका हूँ निम्मो, कि अपने जीवन से न खेलो। ठंडे दिल से सोचो—अपनी बुद्धि को गिरवी न रख कर उससे पूरा लाभ उठाओ। हिम्मत से काम लो। न अपना जीवन नष्ट करो, न मेरा। तुमने वृथा के बन्धनों में अपने को जकड़ रखा है। वृथा के वहम अपने इर्द गिर्द बुन लिये हैं। इन वहमों, इन शंकाओं के जाल तोड़ दो। पाप-पुण्य की बातें छोड़ो। नातेदारों की प्रसन्नता की परवाह

न करो। दुनिया की बात जाने दो। तुम उसे कभी प्रसन्न न कर सकोगी। अपने अन्तर की आवाज़ का गला न घोंठो, उसकी सुनो और मानो।

जब तुम्हारे पापा ने तुमसे पूछा था कि वह यहाँ इतना क्यों आता है, क्या तुम उससे विवाह करना चाहती हो? तो तुमने 'नाहीं' क्यों कर दी? तुम इतना डर क्यों गईं निम्मो? तुम्हारे पापा का स्नेह यदि सच्चा है तो वे तुम्हें कभी भी न त्यागेंगे, चाहे तुम कैसा भी भयंकर अपराध क्यों न करो!

अपने प्रियजनों के विरुद्ध खड़े होकर कोई काम करना एक तरह से उनसे दूर हटना है और उन्हें छोड़ देना है और यह बड़ा कठिन है। ऐसी दशा में मानसिक वेदना और दिमाग़ी परेशानी उठानी पड़ती है। मैं सब समझता हूँ और अनुभव करता हूँ। किन्तु जिन्हें तुमसे वास्तविक स्नेह है, वे तुम्हें समस्त त्रुटियों सहित अपना लेंगे और उनके स्नेह में तनिक भी अन्तर न आयगा।

तुम और किसी के साथ विवाह करके सुखी नहीं हो सकतीं और न ही मैं ऐसा करके सुखी हो सकता हूँ। वैवाहिक जीवन को सफल बनाने के लिए शरीर का समर्पण पर्याप्त नहीं—शरीर और मन दोनों का सम्पूर्ण-समर्पण ही शान्त तथा सुखी गृह-जीवन के लिए आवश्यक है और मुझे विश्वास है कि ऐसा न तुम कर सकोगी और न मैं ही कर पाऊँगा। शरीर अपने संगी को देकर मन में हम एक-दूसरे के लिए ही सोचा करेंगे। यह दो और व्यक्तियों के साथ अन्याय होगा। इस प्रकार दो और निर्दोष जीवन नष्ट हो जायेंगे और यह वास्तव में पाप होगा। हो सकता है तुम्हें मुझसे अच्छा साथी मिल जाय, किन्तु निम्मो, अच्छाई बुराई तो मन की चीज़ है। मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ कि अपनी

समस्त त्रुटियों के बावजूद मैं तुम्हें प्रसन्न रखने की चेष्टा करूँगा। मेरा विश्वास है, मैं सफल भी हो जाऊँगा। मेरे घरवाले भी तुम्हारा स्वागत करेंगे और तुम्हारे त्याग के लिए न केवल तुम्हारा आदर करेंगे वरन् मैं और वे इसकी प्रतिपूर्ति करने की भी चेष्टा करेंगे।

मिस्र जाने के लिए पूछा जा रहा है, मैंने अभी अपना नाम नहीं दिया। मेरे सामने दो ही मार्ग हैं—या तो लौट आऊँ और चैन से जीवन व्यतीत करूँ या फिर समस्त आशाओं और अरमानों को युद्धाग्नि में होम करने के लिए मिस्र चला जाऊँ। जीवन को घसीटने में या उसके साथ घिसटने में मेरा विश्वास नहीं। धीमे-धीमे जलते रहने से एक ही बार ज्वाला बनकर जलना और बुझ जाना मुझे अधिक प्रिय है। यह कहने में मुझे तनिक भी हिचकचाहट नहीं, इस बात को स्वीकार करने में मैं अपना अपमान नहीं समझता कि मेरे जीवन में तुम्हारे अतिरिक्त कोई आकर्षण नहीं!

अपने दो पत्रों के उत्तर में एक भी शब्द तुम्हारी ओर से न पा सका और कदाचित् मैं तुम्हें इतना लम्बा पत्र न लिखता, किन्तु तुम्हारी चुप्पी ने और मिस्र जाने के इस प्रश्न ने, जो अचानक मेरे सामने आ उपस्थित हुआ है, मुझे विवश कर दिया है। मैं इस विषय में तुम्हारा परामर्श लेना चाहता हूँ। अब तुम जो भी कहोगी, वही मेरा अन्तिम निर्णय होगा।

मुझे एक सप्ताह के भीतर ही मिस्र जाने का निश्चय करना है और तुम्हारे पत्र की प्रतीक्षा करके ही मैं अपने कर्नल को इसका उत्तर दूँगा। तुम एक बार समस्त पुरानी स्मृतियों को अपनी आँखों के सामने लाकर ठंडे दिल से सोचो, मेरा यह पत्र भी अच्छी तरह पढ़ो और समस्त बातों

पर गहन विचार के पश्चात् ही मुझे उत्तर दो। बस मुझे और कुछ नहीं कहना।

अपने समस्त स्नेह-सहित
तुम्हारा ही
जुगल

अपने कमरे की खिड़की में पाँव बाहर को लटकाये निर्मला अन्य-मनस्क बैठी थी। आकाश पर बादल धीरे-धीरे मन्द-गति से चले जा रहे थे। ऐसा लगता था जैसे चिर-संचित व्यथा के कारण उनका मन भर आया है और अपने समस्त संयम के बावजूद कभी-कभी उनके संयत आँसुओं की कुछ बूँदें अनायास ही गिर पड़ती हैं। निर्मला को याद आया—ऐसे ही मौकों पर वह जुगल के साथ वाटिका में घूमा करती थी—वह उसके बालों में फूल लगा दिया करता था और वह मुस्करा देती थी! तभी दो पक्षी उसकी खिड़की के सामने से उन्मुक्त उड़ते हुए चले गये – निर्मला सोचने लगी—क्या ही अच्छा होता यदि हम मनुष्य न होकर पक्षी ही होते—आकाश में स्वतन्त्र उड़ा करते, फिर उसे जुगल का ध्यान हो आया—जाने वह कहाँ चला गया? कोई पत्र भी तो नहीं लिखा उसने। माना उसी की ग़लती थी, वह लड़ पड़ी उससे, किन्तु उसे यों लापता न हो जाना चाहिए था। अब वह कहाँ से उसका पता लगाये! सहसा नौकर ने आकर डाक दी। डाक में दो-तीन चिट्ठियाँ और दो-एक अख़बार थे। उसने देखा पहली चिट्ठी पर जुगल के हाथ का पता है। वह चौंकी—उसने झट से लिफ़ाफ़ा उठाया। यह उसका तीसरा और अन्तिम पत्र था। डाकखाने की ओर से एक स्लिप उसके

साथ लगी हुई थी जिसमें लिखा था कि राजनीतिक गड़बड़ के कारण पत्र पहले नहीं भेजा जा सका। उसने जल्दी से लिफ़ाफ़ा खोला और सारे का सारा पत्र वह वहीं बैठी-बैठी पढ़ गई। उसकी समझ में न आता था कि यह सब कैसे हो गया? पहले दो पत्र कहाँ गये? उसे क्यों नहीं मिले? यदि मिल जाते तो वह उसे कभी मिस्र न जाने देती, अब वह कहाँ है? सहस्रों संशय अचानक उसके मन में जाग उठे। हताश-सी वह पत्र लिये आराम कुर्सी पर आकर लेट गई। उसने एक बार फिर उस पत्र को आद्योपान्त पढ़ा। तभी नौकर ने आकर ताज़ा अख़बार दिया। पहले ही पृष्ठ पर मोटे अक्षरों में लिखा था—

"मृत्यु के बाद विक्टोरिया क्रास का प्रदान

अल-आलमीन के युद्ध में स्व० केप्टन जुगुल की वीरता"।।

अख़बार उसके हाथ से गिर पड़ा और अनायास उसकी आँखों से आँसू बह चले।

——

फ़ैसला

शिशिर की हिम-शीतल ठिठुरती हुई रात अपने धुएँ और धुँध के साथ कब की उतर आई थी। नगर के समस्त कोलाहल का जैसे गला घोंट कर उसने उसे चुप करा दिया था। ट्रामें, मोटरें, ताँगे सब मौन हो गये थे और धुएँ और धुंध ने पूर्ण रूप से, सर्वत्र अपना एकाधिकार जमा लिया था—मार्गों की बिजलियाँ (युद्ध-काल की बचत के कारण) बुझी हुई थीं। सूची-भेद्य अँधकार और नीरवता छाई हुई थी। और किसी इक्के-दुक्के ताँगे या साइकिल की खड़खड़ाहट अथवा उसकी टिमटिमाती बत्ती इस नीरव अँधकार को और भी घनीभूत कर रही थी। बृजेश के मस्तिष्क में भी मदिरा का खुमार उसी अँधकार की भाँति छाया जा रहा था और नीरा सेन के संग बीते हुए चन्द क्षणों की स्मृति उसे और भी गहन बना रही थी—नीरा—सौन्दर्य की वाटिका का वह अछूता, लुभावना रंगराता पुष्प—वह चाहता था

१३

कि भौंरे की भाँति उस पर मँडराता रहे—और उमंग में उसने गुनगुनाना शुरू किया—

भौंरा रस का लोभी रे!

रस और सौन्दर्य दोनों एक ही वस्तु के दो रूप हैं। सौन्दर्य बाहर की वस्तु है और रस भीतर की। उसे भी तो केवल सुन्दरता इष्ट नहीं। इस सुन्दरता का रस भी वह लेना चाहता है। और उसने और भी उमंग में तान लगाई—

भौंरा रस का लोभी रे!

नौकर बरामदे में अपनी चारपाई पर, मैले-फटे कम्बल में सिकुड़ा-सिमटा पड़ा अभी तक उसकी बाट जोह रहा था। स्वर पहचान कर बोला—

"बड़ी देर कर दी सरकार"

"बको नहीं!" मदोन्मत्त स्वर में बृजेश ने कहा, "दरवाज़ा खोलो!"

नौकर ने देखा उसके स्वामी के स्वर और गति दोनों में लड़खड़ाहट है। उसने चुपचाप उठ कर किवाड़ खोले। बृजेश जाकर कौच में धँस गया। सामने तिपाई पर मदिरा से भरी सुन्दर सुराही पड़ी थी और पास प्याला रखा था। बृजेश ने हाथ बढ़ा कर सुराही उठा ली और प्याले में उँडेलते हुए, थरथराते से स्वर में पूछा, "कोई डाक आई?"

"एक यही लिफ़ाफ़ा आया है!" नौकर ने वहीं तिपाई पर पड़े हुए एक लिफ़ाफे की ओर संकेत कर दिया।

बृजेश ने उत्सुकता से लिफ़ाफ़ा खोला। उसे नीरा के पत्र की प्रतीक्षा थी। किन्तु पत्र उसके मित्र नरेन्द्र का निकला :—

बृजेश डियर,

तुम्हें यह जान कर प्रसन्नता होगी कि आख़िर मैं अपने वैवाहिक जीवन की जटिल समस्या को सुलझाने में सफल हो गया हूँ। कल शशि से मेरा विवाह हो गया। इस प्रकार मैंने अपनी समस्त मानसिक और शारीरिक पीड़ा का अन्त कर दिया। सदा के लिए!

मेरे जीवन की असफलता तुम से छिपी नहीं। फिर जब मुझे ज्ञात हुआ कि कान्ता एक बच्चे की माँ बनने वाली है तो मैं स्तब्ध रह गया। मैंने फ़ैसला कर लिया कि इस झूठे, खोखले वैवाहिक जीवक का अन्त कर दूँगा।

कोई दूसरा व्यक्ति, इसी कारण (पत्नी के गर्भवती होने के कारण) विवाह को निबाहने का फ़ैसला करता। परन्तु जब मुझे उस बच्चे के जीवन का ध्यान आता है, जो उपेक्षा, घृणा, निष्ठुरता और उदासीनता के उस कटु वातावरण में उत्पन्न होकर पलेगा तो मैं काँप उठता हूँ—और फिर मैं केवल उसी बच्चे के सम्बन्ध में नहीं सोचता, वरन् मुझे उन सब बच्चों का ध्यान हो आता है जो कान्ता के साथ जीवन निबाहने का परिणाम होते।

कान्ता के साथ मेरा विवाह एक भूल थी और यद्यपि इस भूल में कान्ता के तथा मेरे माता-पिता भी दोषी हैं, किन्तु अपने दोष को भी मैं अस्वीकार नहीं करता। परन्तु बृजेश, एक बार भूल करने पर उसमें निरन्तर वृद्धि करते रहने में मेरा विश्वास नहीं। कान्ता को छोड़ देना बुरा है, पाप है, किन्तु इस समस्त घृणा के बावजूद उसके साथ निबाहना और बच्चे पैदा करते जाना (जो इस निबाहने का

स्वाभाविक परिणाम है) इससे भी बुरा है और मेरी दृष्टि में महा-पाप है। इस लिए मैंने छोटा पाप चुन लिया है।

यह बात मैं विश्वास के साथ नहीं कह सकता कि अब मुझे पूर्ण शान्ति और प्रसन्नता प्राप्त होगी। प्रसन्नता एक सापेक्ष्य सी चीज़ है और फिर अपने प्रत्येक सुख का मोल हमें उससे कहीं अधिक दुख झेल कर चुकाना पड़ता है। किन्तु दुख के भय से सुख की वाँछा ही न करना, दुख के सामने हथियार डाल देना है, दुख से हार मान लेना है। मेरी दृष्टि में यह जीवन के साथ अन्याय है। इस विवाह को भी तुम मेरा, दुख के महासागर में पैठ कर सुख का रत्न पाने का एक प्रयास भर समझो और प्रार्थना करो कि मैं इस रत्न को सम्हाल कर रखने में सफल रहूँ।

तुम्हारा
नरेन्द्र

पत्र पढ़ कर बृजेश हताश सा कौच पर पीछे को लेट गया। प्याले को ओठों से लगाना तो दूर, उसका पहला मद भी, जो ह्वाइट-लेबल के दो पैग पीने के बाद उसके मन-मस्तिष्क पर छा गया था, सहसा हवा हो गया। उसके हृदय से एक हूक सी उठी। अपने साहसी मित्र के प्रति, जिसे वह सदैव कायर और भीरु समझता था, एक विवश सी ईर्षा का भाव उसके मन में जाग उठा—एक बार फिर उठ कर उसने सारे-का-सारा पत्र पढ़ा और एक और भी दीर्घ और भी गहरा निश्वास उसके मन की गहराइयों से निकल गया। अभी कुछ देर पहले, लाल परी के संसर्ग में, उसने अपने जिस दुख को भूल जाना चाहा था, वह जैसे द्विगुन होकर अपने भयानक रूप में उसके सामने आ गया।

बृजेश का विवाह बड़ी धूम-धाम से हुआ था। विवाह से पहले उसकी माँ और उसकी बहन लड़की को देखने गई थीं। लौटीं तो प्रशंसा करते उनकी ज़बान न थकती थी।

"ज्ञान, ज्ञान की खान तो है ही," उसकी माँ ने कहा था, "रूप, गुण और शील की भी खान है।"

"ऐसी सुन्दर है.......ऐसी सुन्दर.........." उसकी बहन को उपयुक्त शब्द न मिल रहे थे, "जैसी कि.......जैसी कि कोई ऐक्ट्रेस!"

और बृजेश के सम्मुख उसकी प्रिय ऐक्ट्रेसों के चित्र घूम गये थे—फिर उन सब की मिली-जुली छवि उसके मन-मस्तिष्क पर छा गई—सविता देवी जैसी बड़ी-बड़ी, भोली मदमाती आँखें, स्नेह प्रभा सा गाता-नाचता चाँचल्य, देविका रानी जैसी रूमती-झूमती मस्त चाल, लीला देसाई सा गदराया शरीर और कानन बाला जैसा मधुर-मादक-रसभरा स्वर—वह उसे हारमोनियम ला देगा और उसका मादक-मदिर संगीत ही लोरी बन कर उसे सुलाया करेगा।

वह प्रसन्न था, अपने में फूला न समाता था। अपने इस आल्हाद को अपने मित्रों से बाँट लेना चाहता था। जल्द-जल्द कपड़े बदल कर वह नरेन्द्र के घर की ओर चल पड़ा था।

नये बसंत के नये दिन थे। पेड़-पौधे कोंपलों से लदे-फँदे अपनी लम्बी-लम्बी शाखाओं के साथ बसन्त-समीर के सुख-स्पर्श से प्रमुदित झूले झूल रहे थे। बृजेश की दृष्टि आँगन में लगे हुए गुलाब के पौधे पर गई—एक फूल मुस्काता हुआ हरे-भरे लहलहाते पत्तों में झूम रहा था। बृजेश का मन उल्लास से झूम उठा। उसके मन का पौधा भी तो हरा-भरा होकर लहलहाने लगा था। उसमें भी तो एक सुन्दर गुलाबी फूल

खिल उठा था और उसकी मुस्कान भी तो ऐसी ही लुभावनी हो गई थी।

चलते-चलते उस फूल के इर्द-गिर्द उसने एक सुन्दर वाटिका बना ली—लहलहाते पौधों की सुन्दर क्यारियाँ, बेलों से घिरे हुए शीतल, शान्ति-प्रद कुञ्ज, झर-झर बहते हुए झरने......

किन्तु जब वह विवाह करके वधू लाया तो उसकी वह सुन्दर वाटिका पलक झपकते झुलस कर राख हो गई—और उसका स्थान एक जलते-तपते विशाल मरु ने ले लिया।

विवाह से पहले जब उसके मित्रों में उसकी सगाई के सम्बन्ध में चर्चा हुई थी तो नरेन्द्र ने उसे समझाया था, "देखो, बिना देखे कदापि विवाह न करना। मेरी ओर देख लो, जीवन नष्ट किये बैठा हूँ।"

किन्तु प्राणनाथ उससे सहमत न था, "सब तुम्हारे जैसे अभागे तो नहीं होते।" उसने नरेन्द्र से कहा था, "बृजेश की माँ कहती हैं..."

"माँ" नरेन्द्र ने बात काट कर कहा था, "वे तो पुराने ज़माने की हैं, और फिर पढ़ी-लिखी भी नहीं।"

"पर बहन" प्राण ने निरुत्तर हुए बिना उत्तर दिया, "वह तो पढ़ी-लिखी है, बृजेश की रुचि को, उसके स्वभाव को समझती है। जब वह कहती है कि लड़की सुन्दर है तो उसे अब देखना, सोहाग की रात प्रथम दृष्टि-विनिमय के उस अनिर्वचनीय आनंद से सदैव के लिए वंचित हो जाना है।"

और बृजेश उछल पड़ा--"वाह! कैसी कलाकारों की-सी बात कही है। नरेन्द्र तो ठहरा वकील, कचहरी के शुष्क वातावरण ने इसकी कोमल भावनाओं को कुंठित कर दिया है। सोहाग की रात, सौन्दर्य की उस प्रतिमा के दर्शनों की कितनी लालसा उसके मन में होगी—कितना कौतूहल, कितनी जिज्ञासा, कितनी उत्सुकता होगी! और उस

सबको निमिष भर की मूर्खता में खो देना, "ऊँह!" और उसने वह सब प्रसन्नता, समस्त सुख, उस रात के लिए सुरक्षित कर रखा था।

परन्तु सोहाग रात के उस बारीक घूँघट से, उसने अपनी पत्नी का जो रूप देखा; उससे घूँघट उठाने का सारा कौतूहल विलुप्त हो गया था। वह चुपचाप पँलग की पट्टी पर बैठ गया था। तब उसकी पत्नी ने स्वयं ही घूँघट तनिक सा उठा दिया था।

और न चाहते हुए भी बृजेश ने देखा था—शरीर तो लीला देसाई जैसा ही गदराया हुआ है, रङ्ग भी गोरा है, परन्तु पूर्णमासी के आकाश पर बिखरे हुए काले-काले बादलों की भाँति उसके मुख पर चेचक के बड़े-बड़े धब्बे हैं। आँखें छोटी और भाव-शून्य हैं। ओठ मोटे और भद्दे हैं। वह मर्माहत सा खिड़की के सम्मुख जा खड़ा हुआ था।

उसके कानों में गूँज उठा—ऐक्ट्रेस। क्या ऐक्ट्रेसें ऐसी ही होती हैं? उसके मन में प्रश्न उठा। फिर एक विषाक्त-मुस्कान उसके ओठों पर फैल गई—हाँ, होती क्यों नहीं?—उसने स्वयं ही उत्तर दिया।

बाहर चाँद निकल आया था। बृजेश वहीं खड़ा चाँद और घने काले मेघों का युद्ध देखने लगा। मेघ बार-बार चाँद पर छा जाते, उसकी श्वेत चन्द्रिका को ढक लेते और वह बार-बार, मानो तड़पकर, उसके चंगुल से स्वतन्त्र हो जाता। उस समय उसकी माँ दबे पाँव आकर उस के पीछे खड़ी हो गई—"अरे, तुम यहाँ खड़े हो, बहू कब की कमरे में गई हुई है!" उसके कन्धे पर धीरे-धीरे हाथ फेरते हुए उसने कहा।

बृजेश ने उत्तर न दिया। पूर्ववत शून्य दृष्टि से आकाश की ओर देखता रहा। घने मेघों से घिरा हुआ चाँद स्वतन्त्र होने के लिए छटपटा रहा था। वैसी ही छटपटाहट बृजेश ने अपने मन में अनुभव की। उसके जी में आई कि एक दम इन दीवारों को फाँद कर भाग जाय—कहीं बहुत दूर भाग जाय!

"क्यों ?" माँ के स्वर में शंका का सम्मिश्रण और अधिक हो गया। "क्या बहू पसन्द नहीं आई ?"

"नहीं, पसन्द है।" विवश क्रोध के तूफ़ान को मन ही में दबाते हुए, पराजित होकर उसने कहा। ऊपर आकाश में धीरे-धीरे चाँद की तड़प थक गई थी और चारों ओर घनीभूत अंधकार छा गया था। बृजेश ने आँखों में अनायास छलक आने वाले आँसुओं को पोंछा और भीतर चला गया। नरेन्द्र ने उसे कितना समझाया था, कितना कहा था कि अपने अतिरिक्त किसी पर भरोसा न करो। लेकिन बड़ा कलाकार बनता था वह ! अपनी इस कलाकारिता के दर्प में उसने अपना ही आगत नहीं बिगाड़ा, उस ग़रीब का भविष्य भी तबाह कर दिया, जो न जाने कितनी अभिलाषाएँ, कितनी लालसाएँ मन में लिये, सोहागरात की उस सेज पर बैठी थी– उसे क्या अधिकार था उसके जीवन को यों अंधकारमय बनाने का ? मूर्ख, अपने किये का दंड भोग—निबाह !

परन्तु तभी उसे विचार आया कि महज़ कलाकार होने की तो बात न थी। जब उसने सगाई से पहले अपनी पत्नी को देखना चाहा था तो उसकी माँ ने उसकी बहन का ज़िक्र किया था कि यदि तुम्हारी बहन को कोई देखकर नापसन्द कर दे ! और वह निरुत्तर हो गया था। अब अपनी दुर्बलता पर उसे असीम क्रोध हो आया। वाह, क्या तर्क है—क्योंकि उसकी बहन असुन्दर है, इसलिए उसे सुन्दर पत्नी पाने का अधिकार नहीं। और उसका मन अपनी माँ, अपनी बहन, स्वयं अपने विरुद्ध एक असह्य क्रोध और ग्लानि से भर आया, किन्तु क्रोध का यह तूफ़ान उसके अन्तर ही में उठता रहा, उसके मुख पर उसका प्रतिबिम्ब तक न आया।

अपने वैवाहिक जीवन के उन पहले चार दिनों में बृजेश की दशा उस नौका की-सी थी जो तूफ़ानी लहरों में घिरी कभी डूबती और कभी

उतराती है। उसके मन में कभी वधू बन कर आई हुई उस नारी के लिए, जो अपने भद्दे कुरूप शरीर के साथ उससे प्रेम की वाँछा रखती थी, असीम घृणा का तूफ़ान उमड़ आता था, कभी उसका मन उसी अज्ञात अपरिचित नारी के प्रति, जो विवाह के चार ग़लत-सलत मन्त्रों से उसकी पत्नी बन गई थी, करुणा से भर आता था, वह कभी उसे छोड़ना चाहता था, कभी उसके साथ निबाहना और इसी दुविधा में वह चार दिन तक उससे प्रेम का नाटक खेलता रहा था।

परन्तु उसने उसे अपने मानसिक भावों की गन्ध तक न पाने दी। वह सोचती,थी—मेरा पति कितना भला, कितना शर्मीला, कितना योग्य है! मन ही-मन उसने अपने भाग्य को सराहा भी था। किन्तु बृजेश के लिए यह सब कुछ असह्य हो गया था और वह चार ही दिन पश्चात् दिल्ली भाग आया था।

दिल्ली आकर वह उन कष्टप्रद दिनों की स्मृति को रेस्तोराँ और होटलों में, मदिरा और सौन्दर्य के संसर्ग में रह कर भूलने का प्रयास करने लगा था कि एक दिन उसे माँ क़ा पत्र मिला था—"कन्या देवी ने जन्म लिया है।"

बृजेश ने अपना सिर पीट लिया था। देवी— एक विषाक्त-मुस्कान उसके ओठों पर फैल गई। विचित्र देश है यह भारतवर्ष भी! यहाँ की स्त्रियाँ देवियाँ हैं और पुरुष देवता—यदि नहीं, तो उनसे आशा रखी जाती है कि देवी-देवता बनें। मनुष्य की आवश्यकता इस पुण्य-भूमि में नहीं—और अब एक देवी ने स्वयं उसके घर पदार्पण किया था।

किन्तु यह देवी उसके घर आकर उसे सम्हाल न सकी थी। उसके उखड़े हुए पाँव और भी उखड़ गये थे। विशाल निर्जन मरुस्थल में प्रचंड पवन के आवेग से उखड़ कर उड़ती हुई पीली-पीली पपोली की भाँति वह उड़ा फिरता था। रुकता, सोचता और फिर उड़ने लगता।

एक दीर्घ-निश्वास उसके हृदय की गहराई से निकल गया। वह करवट बदल कर कौच पर लेट गया। सहसा उसकी दृष्टि मेज़ पर रखे नीरा के चित्र पर गई। उसके जीवन-मरु में यही एक शाद्वल था। उसकी संतप्त आत्मा को उसी के यहाँ कुछ शान्ति प्राप्त होती थी।

नरेन्द्र ठीक ही तो कहता है—उसने सोचा—ग़लती को बढ़ाते चले जाने में कोई तुक नहीं। वह भी तो मुझी जैसा है—जिस प्रकार शशि ने आकर उसका जीवन सँवार दिया है, क्या नीरा मेरा जीवन न सँवार देगी। इस अव्यवस्था और विरसता में व्यवस्था और रस का संचार न करेगी।

नीरा—उसने सोचा, यदि वह उसके जीवन में न आती तो जीवन उसके लिए कितना असह्य हो जाता! वह अन्त कर चुका होता इस निरर्थक, खोखले जीवन का।

नीरा कवियत्री थी, चित्रकार थी, शान्ति-निकेतन में रह कर उसने वह सब कुछ सीखा था। वह बृजेश की कविता पसन्द करती थी। उस से भेंट करके वह प्रसन्न भी हुई थी। उसके घरेलू-जीवन की करुणा-जनक कथा सुन कर उसे दुख भी हुआ था। बृजेश के लिए उसके मन में सहानुभूति का समुद्र भी उमड़ आया था और वे एक दूसरे के पर्याप्त निकट भी आ गये थे।

उसी ने एक दिन उसे समझाया था—यों जीवन नष्ट करने से लाभ? आप इतने अच्छे साहित्यिक हैं। इस प्रकार दुखी रह कर, निरर्थक जीवन बिता कर, कैसे जीवन-प्रद, सोद्देश्य साहित्य का सृजन कर सकते हैं? यह हानि आप की नहीं, साहित्य की है, साहित्य की हानि जाति की हानि है और जाति की हानि सारे देश की, वरन् समस्त संसार की हानि है। और संसार के लाभ-हेतु एकाध जीवन का बलिदान उतना महत्व नहीं रखता!—उस समय वह अपनी उस कुरूप पर निर्दोष

पत्नी का पक्ष लेकर नीरा से तर्क-वितर्क करता रहा था और कई नैतिक, सामाजिक तथा वैयक्तिक सिद्धान्त उसने गिना डाले थे।

और सम्भवतः इसी कारण वह नीरा की दृष्टि में ऊँचा उठ गया था, परन्तु अब अपने कमरे के इस एकान्त में बैठे हुए, उसके कानों में नीरा के समस्त शब्द गूँजने लगे और सब कुछ उसके सम्मुख स्पष्ट हो गया—गधे ! वह तुझ पर मरती थी, वह तेरे जीवन में आना चाहती थी, वह तेरी सम्मति जानना चाहती थी और तू नीति का चचा बना रहा। बड़ा भारी शहीद ! तू गधा है—भीरु और कायर गधा—साहसी और वीर यों बाज़ी मार ले जाते हैं, नरेन्द्र की भाँति !

और उसके सम्मुख वे सब पत्र घूम गये जो नीरा ने लाहौर से लिखे थे।

जिस प्रकार अंधकार में सहसा बिजली कौंध जाती है, उसके मन में एक विचार कौंध गया—वह क्यों न लाहौर जाय। नीरा वहाँ है, उसकी पत्नी भी वहीं है। क्यों न वह सदैव के लिए इस मानसिक यन्त्रणा की समाप्ति कर दे—नरेन्द्र की भाँति दो-टूक फ़ैसला करे ! और सहसा उसने नौकर को पुकारा—लच्छमन !

नौकर हाथ बाँधे खड़ा था।

"मेरा बिस्तर-बाँध दो। मुझे सुबह की गाड़ी से जाना है।"

"मालिक....."

"बको नहीं। अलार्म लगा दो सुबह पाँच बजे का। मैं यहीं कौच पर ज़रा पीठ लगा लूँगा। और देखो यह अर्ज़ी लिखे देता हूँ, सुबह याद से दफ़्तर में दे आना।

अब वह अपनी पत्नी से बात तक न करेगा, उससे आँख तक न

मिलायेगा और इस मुसीबत से सदैव के लिए निष्कृति पाकर ही लौटेगा—इन्हीं विचारों से खदबदाता हुआ वह गाड़ी से उतरा और एक ताँगा पकड़ कर घर की ओर चल पड़ा। उसके मुख पर संकल्प की कठोरता थी, आत्म-विश्वास की चमक थी। किसी वीर सैनिक की भाँति वह अनुभव कर रहा था मानो वह किसी भारी मोर्चे को सर करने जा रहा है। अपनी विगत दुर्बलता तथा असमंजस पर उसे क्रोध आ रहा था। क्यों न उसने इससे पहले फ़ैसला किया। अपनी इस दुविधा पर वह स्वयं ही हँस दिया। नरेन्द्र के पत्र ने उसकी इच्छा-शक्ति को और भी दृढ़ कर दिया था!

घर पहुँचा तो बरामदे ही से पता चला कि उसकी माँ बीमार है। उसके मन में उबलते हुए संकल्प पर इस सूचना ने शीतल पानी के छींटे का-सा काम किया। 'माँ का स्वास्थ्य तनिक सुधर जाय, तब सही'—उसने मन-ही-मन कहा—'परन्तु मैं अपने संकल्पसे टलने का नहीं। इस बीच में नीरा के मत का भी पता चल जायगा।' और चारपाई पर निष्प्राण सी पड़ी, मात्र कराहटों में जीवित अपनी माँ के चरण छूकर वह कौच में धँस गया।

तभी उसकी बहन ने बच्ची को लाकर उसकी गोद में रख दिया और बोली, "देखो बेबी, तुम्हारे पापा आये हैं।"

बेबी और पापा—उसके मन में फिर क्रोध का तूफ़ान उठा। उसे अनुभव हुआ जैसे कोई लिजलिजा सा केकड़ा आकर उसे चिमट गया है—'गधे, यह तेरी करतूत है'—एक घृणा-पूर्ण दृष्टि उस केकड़े पर डाल कर, उसने अपने आप को गाली दी। परन्तु प्रकट उसके मुख से केवल इतना ही निकला—"इसे ले जाओ शीला, मुझे बाहर जाना है।"

"परन्तु इस समय?"

"हाँ !"

"अभी यात्रा से आये हो, अब आराम करो, सुबह हो आना।"

"नहीं।"

उसके स्वर में कुछ ऐसी कठोरता और कर्कशता थी कि उसकी बहन चुपचाप बच्ची को उठा कर भीतर भाभी के पास ले गई।

अपने पुत्र का खिन्न, मलिन मुख देख कर माँ का मन भर आया।

"क्या बात है बेटा ?" वहीं लेटे-लेटे कराह कर वात्सल्य-पूर्ण स्वर में उसने पूछा।

बृजेश जल उठा—इन्हें मानो कुछ ज्ञात ही नहीं। स्वयं ही आँख चुभो कर अब पूछ रही हैं—'ये आँख में आँसू कैसे बेटा'—और उस की आँखें सचमुच भर आईं जैसे वे सचमुच चुभ गई थीं।

"क्या बात है, कहते क्यों नहीं ?" माँ ने और भी घबरा कर पूछा।

"आपको जैसे पता ही नहीं।" वह भिनभिनाया, "इस प्रकार मुझे फँसा कर, बलि का बकरा बना कर आप अनजान बन बैठी हैं। आपने मेरा जीवन नष्ट कर दिया है। मैं फ़ैसला करने आया हूँ, सदा के लिए इस झंझट से छुटकारा पाने आया हूँ"......और वह भूल गया कि उसने तो माँ का स्वास्थ्य सुधरने तक चुप रहने का निश्चय किया था।

"हमारी प्रसन्नता तो तुम्हारी प्रसन्नता ही में है बेटा," माँ के कराहने में वृद्धि हो गई, "परन्तु परायी लड़की का ध्यान आता है।"

"परायी लड़की का ध्यान आता है और अपने लड़के का ध्यान नहीं आता" उसने अवरुद्ध कंठ से कहा, "यदि आप मेरे साथ इसी प्रकार व्यवहार करेंगी तो मैं पागल हो जाऊँगा।"

"धीरज से काम लो बेटा"—लड़के के पागल होने की कल्पना ही

से काँप कर माँ ने कहा। उसका मुख श्वेत हो गया और पीड़ा की अधिकता के कारण उसकी आकृति पर अगणित रेखाएँ बन गईं।

बृजेश उठ कर दूसरे कमरे में चला गया। उसकी पत्नी उसके आने की सूचना पा रसोई घर में चाय बनाने लगी थी। सूटकेस से तौलिया और साबुनदानी लेकर उससे दृष्टि मिलाये बिना, वह जल्दी-जल्दी स्नानगृह की ओर बढ़ा। हाथ मुँह धोकर वह निकला ही था कि उसकी पत्नी ने चाय की ट्रे लाकर आँगन की मेज़ पर रख दी।

परन्तु उसने चाय नहीं पी। "मुझे अभी कहीं जाना है!" केवल इतना कह कर वह भीतर चला गया। उसने बाल सँवारे और नया सूट निकाला—यह सूट उसे बहुत सजता था। मित्रों ने इसकी बड़ी प्रशंसा की थी और स्वयं भी उसे यह बहुत पसन्द था। नीरा सेन से मिलने के लिए, जाने के विचार से आप-से-आप यह सूट उसके हाथ में आ गया था।

कपड़े बदल कर वह मनुष्याकार दर्पण के सामने जा खड़ा हुआ। उसने नख से शिख तक अपना निरीक्षण किया और सन्तुष्ट होकर मुस्कराया। तभी उसकी दृष्टि सिर के बालों पर पहुँच कर अटक गई।

उसे ध्यान आया उसके बाल कितने सुन्दर और घने होते थे। प्रतिभा की देवी के चरणों में उसके वे लम्बे घने बाल भेंट चढ़ गये थे और प्रसाद के रूप में उसे विशाल मस्तक मिला था—प्रतिभा-सम्पन्न होने का सहज पुरस्कार!

सूट पहन कर और टाई की गाँठ को एक बार फिर ठीक करके वह घर से निकला। सड़क पर बिजली की बत्तियाँ, उसके तिमिराच्छन्न हृदय में प्रकाशित अगनित लालसाओं की भाँति जगमगा रही थीं। वह प्रसन्न था। उसकी व्यथा तथा दुख, मौसिमी पक्षियों की भाँति, न जाने किन अज्ञात प्रदेशों को उड़ गये थे। उसका मन उत्फुल्ल था, लगता

था जैसे कोई भारी बोझ उस पर से उतर गया हो—साढ़े नौ बजे थे जब वह नीरा के घर पहुँचा।

नीरा उस समय ड्राइंग रूम में बैठी एक सुन्दर युवक से बातें कर रही थी। बृजेश को देख कर हर्ष की एक आकर्षक 'ओह' उसके ओठों से निकली और बिजली के सुन्दर हंडों के प्रकाश में, टिश्शू की झलमलाती साड़ी में आवृत्त, अपनी सुन्दर छवि बिखेरती हुई वह उसके स्वागत को उठी। निमिष भर के लिए बृजेश उसकी ओर देखता रह गया। वह उसे इतनी सुन्दर कभी न लगी थी।

"ये हैं मेरे मित्र प्रोफ़ेसर गजेन्द्र, भारत के ख्याति-प्राप्त कलाकार!" अपरिचित की ओर संकेत करते हुए उसने बृजेश से कहा।

कलाकार—बृजेश ने देखा—लम्बा क़द, सुगठित देह, सुन्दर मुख पर आत्म-विश्वास की रेखाएँ, गहरी अथाह अनुभूति-पूर्ण आँखें, लम्बी नाक और पतले सुन्दर ओठ!

"ये शान्ति निकेतन में भी रह चुके हैं," नीरा मधुर स्वर में चहचहायी और वहीं मेज़ पर रखा हुआ एक पर्स दिखाते हुए उसने कहा, "यह बटुआ आप ही के हाथों का बना हुआ है। आप ने मुझे भेंट किया है।"

फिर उसने कलाकार को सम्बोधित करके बृजेश की ओर संकेत किया, "और ये हैं मेरे भाई, मिस्टर बृजेश, प्रसिद्ध कवि और साहित्यिक!"

भाई— बृजेश का हृदय धक से रह गया—अब वह क्या भाई ही बनने योग्य रह गया है—उसने सोचा—यदि और चार वर्ष इसी प्रकार बीत गये और वे लड़कियाँ जिन्हें वह चाहता है, उसे भाई ही बनाती चली गई तो..... तो सम्भवत: उसे अपना जीवन इसी पत्नी के साथ बिताना पड़े—सहसा उसका हाथ अपने दिन-प्रति-दिन छनते हुए

बालों की ओर चला गया और उसकी अंगुलियाँ जैसे झिझकती हुई धीरे-धीरे उन में फिरने लगीं और एक खिसियानी सी मुस्कान उसके ओठों पर फैल गई......

"आप से मिलकर बड़ी प्रसन्नता हुई !" उसने बढ़ कर कलाकार से हाथ मिलाने की चेष्टा करते हुए कहा। किन्तु उन्होंने उठ कर केवल हाथ जोड़ दिये।

वह अप्रतिभ सा होकर कौच पर बैठ गया।

उसके पश्चात् नीरा ने क्या बातें कीं, बृजेश ने कुछ नहीं सुना। अन्यमनस्क सा बैठा 'हूँ' 'हाँ' करता रहा। सारा वक्त उसके मस्तिष्क में केवल दो बातें घूमती रहीं—नीरा का शब्द 'भाई' और उसकी पत्नी।"

थोड़ी देर बाद वह आज्ञा लेकर चला आया। अपने विचारों में मग्न उसे पता भी न चला कि वह कब घर पहुँचा—सब लोग सो गये थे, केवल उसकी पत्नी रसोई-घर में बैठी, उसकी प्रतीक्षा कर रही थी।

उसका हाथ अचानक अपने बालों पर चला गया और उसके हृदय में उस बेचारी के लिए असीम करुणा सजग हो उठी।

शिशिर की वैसी ही ठिठुरी हुई रात थी। धुएँ तथा धुन्ध ने नगर के समस्त कोलाहल का गला घोंट कर पूर्णरूप से अपना एकाधिपत्य जमा लिया था। सूचीभेद अन्धकार छाया हुआ था। किसी इक्के-दुक्के ताँगे या साइकिल की खड़खड़ाहट अथवा टिमटिमाती बत्ती इस नीरव अंधकार को और भी घनीभूत बना रही थी। बृजेश लड़खड़ाता हुआ—भौंरा रस का लोभी रे— गुनगुनाता अपने घर के बरामदे में दाखिल हुआ।

अपने फटे मैले कम्बल में सिकुड़ा-सिमटा नौकर अभी तक उसकी बाट जोह रहा था।

"दरवाज़ा खोलो!" मत्त थरथराते स्वर में उसने कहा।

नौकर ने देखा, आज भी उसके स्वामी के स्वर और गति में लड़खड़ाहट है। चुपचाप उठ कर उसने किवाड़ खोल दिये। बृजेश जाकर कौच में धँस गया। सामने मेज़ पर प्याला और सुराही आदिम साथियों की भाँति उपस्थित थे। बृजेश ने सुराही उठाई और प्याले में मदिरा उँडेलते हुए नौकर से पूछा, "कोई डाक आई?"

"यही एक लिफ़ाफ़ा आया है", नौकर ने वहीं मेज़ पर पड़े हुए एक लिफ़ाफ़े की ओर संकेत कर दिया।

बृजेश ने जल्दी से लिफ़ाफ़ा उठाया। उसे मिसिज़ खन्ना के पत्र की प्रतीक्षा थी। लाहौर में उसकी भेंट उन से हुई थी और वहाँ चन्द दिन का निवास उन्हीं के काव्य-प्रेम ने लम्बा और सुखद बना दिया था। बाद में भी उनका पत्र व्यवहार चलता था—किन्तु पत्र उसकी माँ का निकला।

"तुम्हारे घर कल कन्या देवी ने जन्म लिया है," उसकी माँ ने लिखा था, "माँ-बच्ची दोनों स्वस्थ हैं" और फिर उसे सान्त्वना दी थी "बेटा तुम चिन्ता न करना। बहू नीरोग रहे, अगली बार भगवान् लड़का देंगे।"

"लड़का.. ..अगली बार...." फटे हुए ढोल की भाँति वह हँसा। दूसरे क्षण उसने प्याला उठाकर, एक ही घूँट में समाप्त करके उसे मेज़ पर पटक दिया और नशे में बेसुध कौच में औंधा लेट गया।

नौकर ने देखा—फटे हुए ढोल की भाँति हँसता हुआ वह बड़बड़ा रहा था....."अगली बार....लड़का...अगली बार...लड़का.."

——

जगन्नाथ

जगन्नाथ कुलियों के सिर पर से सामान उतरवा कर यथा स्थान रखवा रहा था और मन-ही-मन कह रहा था—कमरे तो अच्छे हैं, खासे बड़े, हवादार और रौशन हैं और फिर इन में बिजली भी है। हमें लोग नाहक डराते थे कि सीज़न कब का आरम्भ हो चुका है, अच्छा मकान मिलना लगभग असम्भव है, लालटेनों में तेल डालते और उनकी चिमनियाँ साफ़ करते-करते हाथ-मुँह काले हो जायँगे।

जगन्नाथ को लालटेनों से बड़ी चिढ़ थी। बम्बई में भी जब कभी बिजली ख़राब हो जाती, गोदाम के किसी कोने में पड़ी हुई उपेक्षित लालटेन को, जिस पर तेल सनी धूल की मोटी परत जम जाती, उसे साफ़ करना पड़ता तो लालटेन साफ़ करते-करते वह बिजली कम्पनी के पदाधिकारियों पर 'मधुर वचनों' की वर्षा करता हुआ बार-बार नाक-भौं चढ़ाता। उसकी नाक चपटी थी, जिसकी नोक ख़ासी ऊपर को उठी

हुई थी, भवें टेढ़ी थीं और नाक-भौं चढ़ाने में उसे कोई कठिनाई न होती थी। जब भी उसे अप्रसन्नता अथवा क्रोध प्रकट करना होता, वह नाक-भौं चढ़ा देता।

यह सुन कर कि पंचगनी में बिजली वाला घर नहीं मिलेगा, वह बड़ा भन्नाया था। उसने चाहा था कि पंचगनी जाने से इनकार कर दे, किन्तु डाक्टरों ने अचानक इस बात की घोषणा की थी कि उसके सेठ के फेफड़ों पर यक्ष्मा ने आक्रमण किया है और इसका प्रतिकार करने के लिए उसे तत्काल पंचगनी के सेनेटोरियम में चले जाना चाहिए। ऐसे संकट के समय जगन्नाथ किस तरह सेठ का साथ छोड़ देता, विशेष कर उस समय जब उसके सेठ को कोई दूसरा रसोइया पसन्द न था!

सामान आदि रखवा कर अपनी इस प्रसन्नता को उसने अपनी सेठानी के सम्मुख व्यक्त किया। खीसें निपोरते हुए बोला, "मकान तो जी काफ़ी खुला, हवादार और रौशन है, बिजली से भी लैस है और लोग हमें डराते थे......"

किन्तु उसकी सेठानी यात्रा के कारण थकी, चिढ़ी और भूखी थी। उसकी प्रसन्नता में किसी प्रकार का योग न देते हुए उसने अत्यन्त चिड़चिड़े स्वर में कहा, "अब रखवा भी चुको सामान। चींटी की चाल छोड़ो और जाकर रसोई-घर में कुछ चाय-वाय का प्रबन्ध करो!"

जगन्नाथ की फैली हुई खीसें निमिष भर में सिकुड़ गईं और नाक-भौं चढ़ाता और बड़बड़ाता हुआ वह रसोई-घर की ओर चला। जब उसने रसोई-घर की चौखट में पाँव रखा तो नाक और भी ऊँची होकर उसके गंजे होते हुए मस्तक को छूने लगी, उसकी भवें तनी हुई कमान बन गईं और उसकी बड़बड़ाहट इतनी ऊँची और कर्कश हो गई कि अपने रसोईघर में बैठी हुई सिन्धी मालकिन के लिए काम करना कठिन होगया।

"यह रसोईघर है," वह बड़बड़ा रहा था, "इसे कौन साला रसोई-घर कहता है, यह तो किसी कोयला बेचने वाले का गोदाम लगता है। बम्बई में हमारे रसोई-घर के फर्श में मुँह भी देखा जा सकता है, यहाँ तो दिन को आदमी भी दिखाई नहीं देता। खाना पकाने को एक चूल्हा भी तो नहीं, सिगड़ी से सुबह-शाम माथा फोड़ना पड़ेगा। कहाँ वह गैस के चूल्हे, ज़रा स्विच दबाया, दियासलाई दिखाई कि भक से आग जल उठी और कहाँ......"

तभी उसकी दृष्टि छत पर गई और उसे विदित हुआ कि रसोई घर में बिजली नहीं। इस बात ने मानो उसकी क्रोधाग्नि पर तेल का काम किया और वह जल कर बड़बड़ा उठा—"इतना किराया और यह रसोई-घर! इन्हें भी हम जैसा बुद्धू और कौन किरायेदार मिला होगा।"

अब सिन्धी मालकिन-मकान के लिए अपने रसोई-घर में बैठे रहना असह्य हो गया। झपट कर वह उठी और आकर जरा कड़क कर उसने पूछा, "क्यों, क्या हुआ है रसोई-घर को? अच्छा-भला तो है।"

"अच्छा है तो तुम लोग इधर आ जाओ और हमें अपना वाला रसोई-घर दे दो। हमने तुम्हारा रसोई-घर देख कर हाँ कर दी थी, हमें क्या मालूम था ऐसी चार सौ बीस होगी।"

सिन्धी मालकिन-मकान ने उसे साधारण नौकर समझा था और सोचा था कि इस बदतमीज़ को झिड़क देगी, किन्तु जब उसने जगन्नाथ की चढ़ी हुई नाक और तनी हुई भवें देखीं और उसके स्वर से ज्ञात हुआ कि वह केवल नौकर नहीं वरन् सेठ का मन्त्री भी है तो वह नम्र हो गई। उसने अभी पूरा किराया भी न लिया था और इस बात ने उसे नम्रता से काम लेने को और भी विवश किया। ओठों में तनिक मुस्कान और स्वर में विवशता उत्पन्न करके उसने कहा—

"देखो भाई, अभी काम चलाओ, बिजली भी लगवा देंगे।"

"तभी हम इधर आ जायँगे, अभी हमको अपना वाला रसोई घर दे दो।"

तब सिन्धी मालकिन-मकान ने उसे अपने रहस्य का साझीदार बनाते हुए कहा, "देखो भाई, मकान हमारा तो है नहीं। हमने तो तीन हज़ार रुपया साल का किराया भर कर इसे लिया है। होटल खोलने का विचार था किन्तु परमिट अभी नहीं मिली, नहीं इस सीज़न में आप को एक कमरा भी न मिलता। फिर भी पैसेंजर आते हैं, इसलिए यह रसोई-घर हमने अपने लिए रख लिया है। दस-दस लोगों का खाना बनाना पड़ता है, सिगड़ी पर कैसे बन सकता है? तुम्हें तो कुछ महीने रहना है और दो-तीन आदमियों का खाना पकाना है। तुम तो फिर बम्बई वाले रसोई-घर में जा सेठ बनोगे, हमें तो इन्हीं रसोई घरों से माथा फोड़ना है।" और स्वर में और विवशता भर कर उसने इतनी और वृद्धि की, "किसी तरह इसी रसोई-घर से काम चलाओ भाई, तुम्हारी बड़ी कृपा होगी, तुम्हारे कारण हम भी चार टुकड़े खा लेंगे। तुम शोर मचाओगे, सेठ और मकान ले लेगा, तुम्हारे हाथ क्या आयेगा? मेरा लड़का भी सेनेटोरियम में बीमार पड़ा है, इसीलिए परदेश में यह झंझट कर रही हूँ। आशीर्वाद दो, उसे आराम आये, हम भी अपने घर जायें।"

जगन्नाथ की चढ़ी हुई त्योरी उतर गई। उसने मन-ही-मन सिन्धी मालकिन-मकान के लड़के को आशीर्वाद भी दिया और चुपचाप सिगड़ी लाकर उस में कोयले भरने लगा।

यह बंगला, जिसके दो कमरे (स्नानगृह मिला कर) सेठ रामचन्दानी ने १०० रुपये महीने के हिसाब से छः सौ पर लिये थे, एक पारसी जज ने बनवाया था। उसे कभी स्वप्न में भी इस बात का ध्यान

न था कि उसका यह 'शान्ति विला' किरायेदारों के काम आयेगा या होटल बनेगा। उसने तो अपने ही परिवार की आवश्यकताओं को दृष्टि में रख कर इसका नक्शा तैयार करवाया था। मध्य में एक बड़ा हाल था (जिस का आधा भाग कॉमन डाइनिंग रूम और आधा कॉमन सिटिंग रूम का काम देता था) उसके दायें-बायें तीन-तीन बड़े कमरे उसने अपने छः लड़कों के लिए बनवाये थे। प्रत्येक कमरे के साथ बाथरूम और ड्रेसिंग रूम था। उत्तर-दक्षिण दोनों ओर हवादार बरामदे थे, बङ्गले के आगे खुला लॉन था जिसके एक कोने में कुआँ था और दूसरे में नौकरों के क्वार्टर।

बंगले के उत्तर में दस कदम के अन्तर से रसोई घर था। पंचगनी में वर्षा इतनी भयंकर होती है कि पाँच छः महीने सूखी लकड़ी या कोयला नहीं मिलता, इसलिए बहुत से परिवार छः सात महीने के लिए इकट्ठा ईंधन डाल लेते हैं। इस पारसी जज ने भी दो-तीन कोठरियाँ कोयला, लकड़ी और दूसरा सामान भरने को, रसोई-घर के साथ ही बनवायी थीं; वर्षा की बौछार सीधी उधर न आये इस अभिप्राय से एक चबूतरा और छोटा-सा बरामदा भी रसोईघर और इन तीनों कोठरियों के सामने बनवा दिया था और इस बंगले का नाम 'शान्ति विला' रखा था, क्योंकि सुख और शांति की इससे उत्तम कल्पना उसके मस्तिष्क में न थी कि उसके सभी लड़के एक साथ रहें, इकट्ठे खाना खायें और इकट्ठे उठें-बैठें।

किन्तु जज के लड़के बड़े होकर ऐसे बिखरे कि इस बंगले में उस के तथा उसकी वृद्ध जीवन-संगिनी के अतिरिक्त और कोई न रहा। आखिर जब एक दिन जज साहब यमराज की अदालत में स्वयं अपने कर्मों का फ़ैसला सुनने चले गये तो उनकी जीवन-संगिनी के लिए इतने बड़े बँगले का एकान्त और सूनापन असह्य हो उठा और वह इस सिन्धी

स्त्री को बंगला किराये पर देकर स्वयं अपने बड़े लड़के के पास महाबलेश्वर चली गई।

रसोईघर तो सिंधी किरायेदार-मकान-मालकिन ने अपने लिए रख लिया क्योंकि उसका विचार होटल खोलने का था, सामान के गोदाम नौकरों की कोठरियों में बना दिये और सामान वाली इन कोठरियों को साफ़ कराके रसोईघर बना दिये।

इन तीन कोठरियों में से एक उसने लक्ष्मी को दी थी जिसका पति कुछ दिन पहले सेनेटोरियम में दाखिल हुआ था, दूसरी जगन्नाथ के भाग्य में आयी और तीसरी इस बात की प्रतीक्षा कर रही थी कि सेनेटोरियम में कोई और रोगी आये तो उसके भी भाग्य जगें। बंगला बाज़ार से तनिक दूर और सेनेटोरियम के निकट था इसलिए जब से पारसी जज की पत्नी ने इसे खाली किया था, इसमें रोगी या उनके सगे-सम्बन्धी ही रहते आये थे।

संध्या का समय था। हवा में बला की ठंडक और तीक्ष्णता भर गई थी। बंगले के लॉन में खड़े गगन-चुम्बी सिलवर के पेड़ों की डालियाँ पवन के प्रबल झोंकों से दोहरी हुई जा रही थीं। एक वृक्ष की डाल पर सदा की भाँति एकाकी सालुंकी आ बैठी थी और रह-रह कर अपनी लाल चोंच से लम्बी सीटी शून्य में गुंजा देती थी। जगन्नाथ अपने रसोई-घर में बैठा साँझ की चाय के लिए सिगड़ी सुलगा रहा था। रसोईघर की दीवारें टेढ़े-मेढ़े पहाड़ी पत्थरों से बनी, पहाड़ी लोगों ही की भाँति, ऊबड़-खाबड़ थीं। इन खुरदरी दीवारों पर काली धूल की परत जमी हुई थी। उन्हें देख कर उन काली-कलूटी छोकरियों का स्मरण हो आता था जो अपने कील भरे, काले मुखों पर पाउडर की तह जमाकर, सुन्दर बनने के निष्फल

प्रयास में, उन्हें और भी कुरूप बना लेती हैं। फ़र्श असमतल और गंदा था। सील और अँधेरे से भरी इस कोठरी को देख कर जगन्नाथ को असीम क्रोध हो आया, किन्तु किराया अब वे दे चुके थे और फिर सिंधी मालकिन ने बिजली लगवा देने और दूसरी मरम्मत करा देने का भी वचन दिया था, इसलिए जगन्नाथ ने इस रसोईघर से (अस्थायी ही सही) समझौता कर लिया था। एक ओर जगह साफ़ कर के उसने आटे चावल आदि के कनस्तर और दाल-मसाले के डिब्बे लगा दिये थे। दूसरी ओर करीने से बर्तन चुन दिये थे। चबूतरे पर बाल्टी और लोटा रख दिया था। एक कोने में कोयले डाल कर आस-पास लकड़ियाँ चुन दी थीं, ताकि कोयले बिखरें नहीं और फ़र्श को अधिक काला न करें। और इस ओर से निश्चिन्त होकर वह गुनगुनाने लगा था।

बाम्हना दा छोरुआ ओ, देस बगाना
नीऊँ चलना*

साथ के रसोई-घर में चिन्तित बैठी लक्ष्मी यह गाना सुन कर चौंकी और उसकी उदास आँखों में एक हल्की सी चमक पैदा हो गई। वह अभी-अभी बाज़ार से सामान लेकर और 'लक्की रेस्तोराँ' के ईरानी मैनेजर से किसी नौकर का पता लेकर लौटी थी और चाय का पानी सिगड़ी पर चढ़ा कर सोच के सागर में डूब गई थी—यदि यह ज्ञात होता कि यहाँ कोई ढब का नौकर न मिलेगा तो वह रामू को ही क्यों जाने देती। बम्बई में गर्मी इतनी अधिक हो गई थी कि उसके पति को रात-रात भर नींद न आती थी, इसीलिए डाक्टरों के परामर्श से वह उसे पंचगनी ले आयी थी। तब उसे बताया गया था कि नौकर ले जाने

*कांगड़े के पहाड़ों का गीत जो 'पहाड़ी' के नाम से प्रसिद्ध है—ऐ ब्राह्मण युवक, देश बेगाना है झुककर चल! (अकड़ से काम न चलेगा)।

की आवश्यकता नहीं, बड़े सस्ते छोकरे मिल जाते हैं वहाँ, किन्तु यहाँ आकर उसे नौकरों के इस बाहुल्य की वास्तविकता का पता चल गया। आस-पास के देहात से पहाड़ी छोकरे भूख के मारे हुए नौकरी करने आ जाते। चार रुपये महीना लेते, चार आदमियों का राशन खा जाते। इतने गन्दे, गँवार और अपढ़ कि कोई बात उनकी समझ में न आती। एक काम करते तो चार बिगाड़ देते। फिर उनका विश्वास भी न था। घर में छोड़ कर लक्ष्मी सेनेटोरियम जाती तो दिल में निरन्तर धुकड़-पुकड़ मची रहती कि कहीं उसकी अनुपस्थिति में सब चीज़ों का सफ़ाया ही न हो जाय। हार कर उसने फ़ैसला किया था कि नौकर रखेगी तो अनुभवी, नहीं सब काम स्वयं करेगी। किन्तु अब वर्षा-ऋतु निकट थी और पंचगनी की वर्षा के सम्बन्ध में भाँति-भाँति की बातें सुन कर वह संत्रस्त थी कि बाज़ार से सामान कौन लायेगा? उसके पति को खाना कौन पहुँचायेगा? खाना पहुँचाने के लिए तो ख़ैर घाटन भी रखी जा सकती है किन्तु बाज़ार से सामानादि लाने के लिए तो अनुभवी, समझदार और विश्वसनीय नौकर ही चाहिए। और वह सोचती थी, कैसी जगह नियति ले आयी, जहाँ एक भी पंजाबी नहीं। सिन्धी, मराठी, मदरासी और पारसी लोगों की भीड़ थी, पर वह इन सब में अपने आप को निपट एकाकी अनुभव करती थी। कोई काम आ पड़े-तो किसी से कह नहीं सकती... ..आवश्यकता पड़ने पर किसी से कोई वस्तु माँग नहीं सकती.....

तभी उसे जगन्नाथ का पहाड़ी गीत सुनायी दिया— पंजाब की पहाड़ियों का प्रसिद्ध गीत! और आशा की एक सूक्ष्म-सी रेखा उसके मन में कौंध उठी।

पानी केतली में उबल-उबल कर बावला हो रहा था। चौंक कर उसने जल्दी से चायदानी में पत्ती डाल कर चाय बनायी। उसने

सोचा चाय पीकर इस नये नौकर से बातचीत करने का प्रयास करेगी किन्तु तभी उसे साथ के रसोई-घर में नवागत सेठानी का कर्कश स्वर और जगन्नाथ की बड़बड़ाहट सुनायी दी। प्याली हाथ ही में लिये हुए वह अपने रसोई-घर की चौखट में आ खड़ी हुई।

बात यह हुई कि क्षण भर के लिए 'पहाड़ी' की उस मतवाली तान में खोकर जगन्नाथ भूल गया था कि उसे जल्दी चाय बना कर ले जाना है। उबलते हुए पानी की 'सां' 'सां' उसके गीत के लिए वाद्य-यन्त्र का काम देती रही और वह बेसुध गाता रहा कि उसकी सेठानी के कर्कश स्वर ने मानो संगीत के उस निखरे हुए तालाब में ईंट फेंक दी।

"तानसेनी पीछे करना, पहले चाय-बिस्कुट रख ! मुझे सेनेटोरियम जाना है।"

वह हड़बड़ा कर उठा और इस जल्दी में प्लेट उस के हाथ से गिर कर टूट गई।

"तेरा ध्यान किधर है ?" उसकी सेठानी गरजी। "क्रॉकरी तो सोने के भाव भी नहीं मिलती और तू तोड़े जा रहा है।"

प्लेट मोटी थी और किंगरे वाली थी। जगन्नाथ के पाँव की छिंगुली पर घाव हो गया। ऊपर से सेठानी की गरज ! उसे बड़ा क्रोध आया। बोला, "हम ने क्या जान-बूझ कर तोड़ी है ? हमारा पाँव फूट गया, आप को प्लेट की पड़ी है।"

"बकबक मत कर और चाय ला !" और फुंकारती हुई उसकी सेठानी चली गई।

जब लक्ष्मी प्याला हाथ में लिये बाहर आई तो उसने देखा—साढ़े पाँच छः फुट लम्बा, हृष्ट-पुष्ट जगन्नाथ बड़बड़ाता हुआ अपना पाँव सहला रहा है। उसकी चौड़ी चपटी नाक ऊपर को उठी हुई है, नथने फूले हुए हैं, जिससे नाक का चपटापन और भी स्पष्ट हो रहा

है। बड़े-बड़े लटकते हुए कानों के ऊपर विशाल मस्तक पर कई तेवर बन गये हैं और वह मोटे-मोटे ओठों में कुछ बड़बड़ा रहा है।

लक्ष्मी के ओठों पर एक सूक्ष्म-सी मुस्कान फैल गई। इस बिफरे हुए सिंह को किस प्रकार वश में करे?—प्याली हाथ में ही लिये हुए वह सोचने लगी।

उसके देखते-देखते जगन्नाथ चाय आदि की ट्रे लेकर भीतर चला गया। लक्ष्मी वहीं चौखट में खड़ी-खड़ी चाय की चुसकियाँ लेती रही। हवा तेज़ हो गई थी, उसकी गरदन में लिपटा हुआ साड़ी का आँचल हवा में फहरा रहा था। सिलवर के वृक्ष पर बैठी हुई सालुंकी निरन्तर लम्बी-लम्बी सीटियाँ भर रही थी और लक्ष्मी, कुछ क्षण के लिए रसोई-घर के अंधकार, उसकी जर्जर दीवारों के अनगिनत बिलों और उनसे निकल कर कुदकड़े मारने वाले चूहों को भूल कर सालुंकी की लम्बी मधुर सीटियों में खो गई थी। तभी जगन्नाथ खाली ट्रे लिये हुए वापस आया और लक्ष्मी चाय का अंतिम घूँट भर कर प्याले को चबूतरे पर रखती हुई आगे बढ़ी। साहस करके उसने पूछा—

"क्यों भाई, तुम लोग कब आये?"

"तुमको हमारे से क्या काम है?" जगन्नाथ ने पूर्ववत् तेवर चढ़ाये हुए बम्बई, की हिन्दुस्तानी में पूछा।

"नहीं भाई, मुझे कोई काम तो नहीं," लक्ष्मी ने संयम के साथ कहा "मैंने तो इसलिए पूछा था कि तुम नये-नये आये हो, किसी चीज़ की ज़रूरत हो तो 'निशंग'† माँग लेना।

जगन्नाथ की भृकुटी उतर गई। मोटे-मोटे ओठ हल्की-सी मुस्करा-हट से फैलये।

---

† निःसंग का पञावी अपभ्रंश

"तुम क्या पञ्जाबी हो ?" उसने पूछा।

"हाँ, हम लाहौर के रहने वाले हैं।"

"हम भी पालमपुर का रहने वाला है," वह प्रसन्नता से बोला।

"इतनी दूर कैसे आ गये तुम ?"

एक विवश दार्शनिक मुस्कान जगन्नाथ के ओठों पर फैल गई। "किस्मत के खेल हैं बीबी। जिस तरह आप लोग आ गये, वैसे ही हम भी आ गये।"

"तुम्हारी सेठानी बड़ा गरज रही थी, बात क्या हुई ?" लक्ष्मी ने आत्मीयता दिखाते हुए कहा।

"मैं चाय बना रहा था कि आकर जल्दी मचाने लगीं। घबराहट में प्लेट टूट गई। मेरा पाँव ज़ख्मी हो गया, इसका उन्हें कोई दुख नहीं, आठ दस आने की प्लेट के टूट जाने का ग़म है।"

"इसमें तुम्हारा क्या दोष, अपने से भी टूट जाती है।"

"और इतने बड़े सेठ बनते हैं, दिल ग़रीबों से भी गया-गुज़रा है।" जगन्नाथ को जैसे कोई अपना आदमी मिल गया।

"मैं टिंक्चर लाती हूँ, पाँव पर लगा लो। बरसात है कहीं पक गया तो......."

और जगन्नाथ के 'न' 'न' करने पर भी लक्ष्मी रुई पर टिंक्चर लगा कर ले आयी। जगन्नाथ का क्रोध न जाने कहाँ हवा हो गया। टिंक्चर का फाहा लक्ष्मी के हाथ से लेते समय उसके मुख पर बाल-सुलभ सरलता खेलने लगी। मन-ही-मन वह सोचने लगा—किसी बड़े घर की लक्ष्मी है। बात-बात से बड़प्पन टपकता है, कोई रुपये से तो बड़ा नहीं हो जाता, दिल बड़ा होना चाहिए। टिंक्चर लगा कर बोला, "किसी चीज़ की ज़रूरत हो बीबी, तो कहना। मुझे अपना भाई ही समझना।"

तब लक्ष्मी ने अपने मन की बात कही, "कोई अपने जैसा नौकर हो तो ला दो। बरसात आ गई है, बाज़ार से सामान लाने और उन को खाना पहुँचाने की दिक्कत हो जायेगी।"

"तुम चिन्ता न करो बीबी। जो चीज़ बाज़ार से लानी हो मुझे बता दिया करना। मैं ला दूँगा और खाने का क्या है, अपने सेठ का ले जाता हूँ, तुम्हारे सेठ का भी ले जाऊँगा।"

"तुम्हारी बड़ी कृपा है भाई," लक्ष्मी बोली "मैंने तो तुम्हारी पहले ही बड़ी तारीफ़ सुनी है। तुम्हारे सेठ 'हमारे उन से' तुम्हारे खाने की बड़ी प्रशंसा कर रहे थे। हम भी तुम से कुछ पकाना सीख लेंगे।"

जगन्नाथ का सिर गर्व से ऊँचा हो गया। बोला, "सेठ ही के लिए तो मैं यहाँ आ गया, मेरी सेठानी को तो मेरी बनाई एक भी चीज़ पसन्द नहीं आती।"

"तुम्हारा नाम क्या है?" लक्ष्मी ने पूछा।

"जग्गू।"

"जग्गू?"

"नाम तो जगन्नाथ है पर सब जग्गू ही पुकारते हैं।"

"तो जगत् के नाथ हुए न तुम?" लक्ष्मी हँस कर बोली।

जगत् का नाथ बन कर जगन्नाथ ने खीसें निपोर दीं।

रात को जब उसने खाना पकाया तो सबसे पहले कटोरा भर सालन लक्ष्मी की रसोई में ले गया कि ज़रा चख कर बताइये, कैसा बना है।

पंचगनी में आकर जहाँ जगन्नाथ को रसोईघर में बिजली के अभाव, सेठानी की डाँट-डपट और वर्षा के आगमन से बहुत कष्ट होता था वहाँ उसके अहम् को यथेष्ट तुष्टि भी मिलती थी। यद्यपि सेठ

रामचन्दानी और उनका दामाद जगन्नाथ को बहुत पसन्द करते थे, किन्तु सेठानी और उसकी लड़की को उसकी कोई बात पसन्द न थी। वे दोनों अपने को खाना पकाने में दक्ष समझती थीं और अपने पतियों से जगन्नाथ की प्रशसा सुन कर मन-ही-मन जल उठती थीं। इसका समस्त क्रोध बेचारे जगन्नाथ पर उतरता था। उसकी प्रत्येक बात में दोष निकालना वे अपना परम-कर्त्तव्य समझती थीं। सेठानी तो उस को पंचगनी ही लाने के विरुद्ध थी, किन्तु सेठ को उसका खाना पसन्द था और क्योंकि इस रोग में डाक्टर खाने पर ज़ोर देते हैं, इसलिए वह चुप रह गई थी। चुप तो रह गई, पर उसका क्रोध अपने में समा न पाता और जगन्नाथ को समय-समय पर उसका शिकार होना पड़ता।

सेठानी और उसकी लड़की से डाँट-फटकार सुनने के पश्चात् जगन्नाथ को लक्ष्मी और दूसरों से प्रशंसा पाकर अतीव प्रसन्नता और सान्त्वना मिलती और अपनी सेठानी को किसी छोटे कुल की समझ कर वह उसकी डाँट-फटकार की उपेक्षा कर देता। उस दिन लक्ष्मी ने उसे जगत् का नाथ कहा था। कुछ दिन बाद सिन्धी मालकिन मकान ने उसे 'बख्तावर' बताया। वह रसोई घर में बिजली लगवा देने का तगादा करने गया था कि मालकिन मकान ने कहा, "तुम बड़े बख्तावर हो जगन्नाथ, तुम्हारे आते ही हमारा सारा वंगला किराये पर लग गया है और पैसेंजर भी आने लगे हैं। पैसा मिलते ही बिजली लगवा दूँगी।" जगन्नाथ गया तो था फुंकारता हुआ, किन्तु जब मालकिन-मकान से मिलकर आया तो बड़ा प्रसन्न था। यहाँ सब उसे अच्छा समझते थे और उसकी सेठानी उसे ही अपनी सब मुसीबतों की जड़ बताती थी और नित्य इस बात की घोषणा करती थी कि जब से वह आया है, उसके घर रोग और विपत्ति ने डेरा जमा लिया है। जब पंचगनी आकर जगन्नाथ ने देखा कि सेठानी और उसकी लड़की को छोड़ सब उसे पसन्द करते हैं,

उसकी प्रशंसा करते हैं तो उसने समझ लिया कि दोष उस में नहीं, उन में है।

बिजली तो उसके रसोई घर में क्या लगती, किरायेदारों और पैसंजरों से कई बार रुपये मिले और आने वाले पैसेंजरों की तैयारी में लग गये, किन्तु सिन्धी मालकिन-मकान ने भी उसके खाना पकाने की प्रशंसा की, उससे एक आध पंजाबी सालन पकाना भी सीखा और उसने भी उसे अपना भाई बना लिया, जिसके फलस्वरूप वह बाज़ार से उसका भी सामान लाने लगा।

जगन्नाथ ने अब उससे बिजली लगवा देने का तगादा करना भी छोड़ दिया था और सोच लिया था कि आदमी अच्छे होने चाहिएँ, जगह की क्या बात है, सदा तो हमें यहाँ रहना नहीं। यह बेचारी सिंधी स्त्री कहाँ बिजली कम्पनी से झगड़ती फिरेगी। फिर जब उसने यह देखा कि चौथे रसोई-घर में आने वाली सेठानी, जो धन-वैभव में उस की अपनी सेठानी से किसी प्रकार कम न थी, बिजली के बिना काम चलाती है तो उसने भी स्थायी रुप से रसोई घर से समझौता कर लिया।

इस नयी सेठानी का नाम लीला बाई था— मोटी, थलथल, पिलपिल, किन्तु हँसमुख, प्रसन्न-चित्त और मधुर-भाषिणी। उसकी लड़की चार वर्ष से सेनेटोरियम में बीमार पड़ी थी। अब यह सुन कर कि उसकी दशा शोचनीय हो गई है, वह अपने बड़े सात बचों को बम्बई छोड़ कर, छोटे तीन बच्चों को साथ लेकर चली आई थी। यों तो लीला बाई के पास तीन नौकर थे, किन्तु लड़की कुछ दिनों की मेहमान है, यह सोच कर वह उसकी प्रिय तरकारियाँ स्वयं अपने हाथ से पका कर भेजती।

एक दिन वह रसोई में आयी तो जगन्नाथ आलू पका रहा था।

लीला बाई ने योंही बात आरम्भ करने के विचार से पूछा, "कहो भाई, क्या पका रहे हो ? बड़ी अच्छी गन्ध आ रही है।"

जगन्नाथ प्रसन्नता से फूल उठा—"पका लूँ, फिर बताऊँगा", उस ने सालन में चम्मच घुमाते हुए, नथुने फुला कर कहा।

लीला बाई चली गयी और तरकारी बना कर जगन्नाथ इस बात की प्रतीक्षा करने लगा कि लीला बाई कब खाने पर बैठे और कब वह बहुत अच्छी गन्धवाली तरकारी लेकर जाय। प्रतीक्षा में समय उसे रेंगता हुआ सा लगा। कई बार डाइनिंग रूम में जाकर देख आया कि लीला बाई खाने पर बैठी है या नहीं। अन्त में लीला बाई खाने की मेज़ पर आ बैठी और वहीं से उसने अपने नौकर को खाना रखने के लिए आवाज़ दी। जगन्नाथ ने यह सुना और एक प्लेट में आलू डाल कर दूसरी प्लेट से ढक कर बड़े आदर से ले गया।

"ज़रा आप के चखने को लाया हूँ !" और प्लेट उसने मेज़ पर रख दी।

"तुम ने योंही कष्ट किया। मैंने तो ऐसे ही पूछा था।"

"कष्ट काहे का!" कहता हुआ वह झट से चला गया।

खाना खाकर लीला बाई ने शिष्टाचार-वश उस के सालन की प्रशंसा की और उसे धन्यवाद भी दिया।

इतनी बड़ी सेठानी से अपने खाने की प्रशंसा सुन कर जगन्नाथ फूला न समाया। उसके बाद जब भी वह आलू पकाता, लीला बाई को चखाना न भूलता। घर में चाहे कम हो जायँ, चाहे उसे स्वयं सूखी रोटी खानी पड़े, किन्तु लीला बाई के लिए प्लेट भर कर ले जाना वह अपना परम कर्त्तव्य समझता।

उस की सेठानी यह सब देखती तो उस के हृदय पर साँप लोटने लगता—मन ही मन जल-भुन कर रह जाती, किन्तु कोई ऐसी बात मुह

से निकाल कर पड़ोसियों की दृष्टि में हेय बनना उसे अभीष्ट न था। फिर इतने बड़े सेठ की पत्नी होकर इतनी छोटी बात कैसे कहे? उस दिन प्लेट के टूट जाने पर जब उसने जगन्नाथ को डाँटा था तो उस के पति को जगन्नाथ से इस बात का पता चल गया था और उस ने बड़े प्यार से पत्नी को समझाया था कि पंचगनी में नौकरों का, विशेष कर अच्छे रसोइयों का, बड़ा अभाव है। इसलिए जगन्नाथ को यदि किसी वस्तु के लिए कहना भी हो तो ऐसे कहा जाय कि उसे बुरा न लगे। "अपने से भी तो चीज़ टूट जाती है," सेठ रामचन्दानी ने अपनी बीवी को समझाया था और फिर दार्शनिक बनते हुए कहा था, "जो बना है वह टूटेगा ही, छः फुट का मनुष्य टूट जाता है तो आध फुट की प्लेट किस गिनती में है?" फिर हँसते हुए बोले थे, "इतनी बड़ी सेठानी होकर ऐसी छोटी-छोटी बातों पर ध्यान न दिया करो। मुनीम से मैंने कह दिया है, अगले सप्ताह आते हुए प्लेटों का सेट खरीद लायेगा।"

सेठानी उस समय तो मन मार कर रह गयी थी, किन्तु इस बात की ताक में रहने लगी कि अवसर मिले तो अपने मन का समस्त क्रोध निकाले। उस दिन के बाद उस ने देखा कि जगन्नाथ और भी शेर हो गया है। उस दिन के बाद ही क्यों, वास्तव में पंचगनी में आने के बाद उसने अनुभव किया था कि जगन्नाथ बदल गया है। बम्बई में वह डाँट सुन कर चुप रहता था, कभी उत्तर देता भी था तो दबे स्वर से, किन्तु यहाँ आकर तो उसे डाँटने की नौबत ही न आती। ज़रा सी बात पर वह इस प्रकार देखता जैसे वह सेठानी न होकर कोई अत्यन्त साधारण स्त्री हो। और वह मन ही मन जल-भुन कर रह जाती।

पंचगनी के सेनेटोरियम में बुध को शाम का खाना नहीं मिलता। डाक्टरों का मत है कि सप्ताह में एक जून आँतों को आराम देना चाहिए। इस उपवास का उद्देश्य बचत भी हो सकता है। कौन जाने!

बहरहाल जिन रोगियों को घर से भी आता है, वे भी छः बजे से पहले पहले समाप्त कर देते हैं। एक बुध को जगन्नाथ कुछ चीज़ें फ्राई करके और थोड़ा-सा गाजर का हलवा पका कर चाय के साथ अपने सेठ के लिए ले गया। चीजें बहुत अच्छी बनी थीं, किन्तु उन्हें भूख न थी। उन्होंने अपने पास बैठे एक गुजराती युवक से हाथ बटाने को कहा और जगन्नाथ से बोले कि जुबली-वार्ड से उन का कप और प्लेट ले आये।

जुबली वार्ड सेनेटोरियम के परले सिरे पर था। जगन्नाथ को वहाँ जाना और किसी दूसरे रोगी के बर्तनों को छूना बहुत बुरा लगा। वह तो अपने सेठ के बर्तन भी सौ नाक-भौं चढ़ा कर धोता था, किन्तु वह सेठ का आदर करता था, इस लिए चुपचाप चला गया और आते समय जुबली-वार्ड के ब्वाय से कह आया कि वह बर्तन वहाँ से वापस ले आये।

"वाह! क्या हलवा बना है?" उस गुजराती युवक ने हलवे का एक चमचा मुंह में रखते हुए कहा, "कौन पकाता है आप का खाना?"

सेठ साहब को अपने नौकर की प्रशंसा अपनी प्रशंसा लगी। प्रसन्नता से बोले, "यह हमारा जगन्नाथ पकाता है। खानां पकाने में इसका सानी बम्बई भर में न मिलेगा।"

"क्या डालते हो हलवे में जगन्नाथ?" उस गुजराती युवक ने पूछा।

"डालता-वालता कुछ नहीं सेठ," जगन्नाथ ने कहा, "सब हाथ की सफ़ाई है।"

खाना समाप्त हो गया तो वह अपने आप ही बर्तन जुबली-वार्ड में छोड़ आया, वार्ड-ब्वाय की प्रतीक्षा भी उस ने नहीं की।

उस दिन तो इतना अच्छा खाना पकाने पर सेठ साहब ने उसे

पुरस्कार भी दिया और शाबाशी भी, किन्तु जब प्रत्येक बुध को उन्हें वहीं हलवा और वही भूनी हुई चीज़ें मिलने लगीं तो उन्हें बड़ा क्रोध आया। उन्होंने यह भी देखा कि जगन्नाथ घर ही से उस युवक के लिए अलग से हलवा बना कर ले आता है और यदि वह वहाँ नहीं होता तो जुबली-वार्ड देने चला जाता है। हालाँकि उन्होंने अपनी पत्नी से कहा था कि छोटी-छोटी बातों की ओर ध्यान नहीं देना चाहिए, किन्तु जब चौथे बुध को भी जगन्नाथ वही हलवा बना कर लाया और गुजराती युवक को देने भी गया तो यद्यपि हलवा अत्यन्त स्वादिष्ट बना था, परन्तु उन के लिए गले से उतारना कठिन हो गया। एक दो चम्मच निगल कर ही उन्होंने प्लेट को परे हटा दिया और जुबली वार्ड से जगन्नाथ के लौटने की प्रतीक्षा करने लगे, किन्तु जब वह लौट कर आया तो उस के साथ वह गुजराती युवक भी था। उस ने उन चीज़ों के लिए सेठ साहब को धन्यवाद दिया और "हिन्दोस्तानना भागला तो पड़ी गया" * से बात आरम्भ करते हुए कुर्सी सँभाल ली।

भारत के बँटवारे के सम्बन्ध में सेठ साहब के अपने विचार थे। कोई और अवसर होता तो वे ज़ोरों से उन्हें प्रकट करते, किन्तु उस समय मन ही मन लोहू के घूँट भर कर और ओठों पर एक खिन्न सी मुस्कान लाकर रह गये। जगन्नाथ बर्तन उठा कर चला गया और वे गुजराती युवक की बातों का 'हाँ' 'हूँ' में उत्तर देते रहे। अन्त में यह जान कर कि सेठ साहब की तबीयत ठीक नहीं, वह गुजराती युवक भी चला गया।

रात को कुछ क्रोध और कुछ भूख के मारे सेठ साहब को नींद न आयी। वे जगन्नाथ को डाँट देते तो सम्भवतः शान्त हो जाते, किन्तु वह उसी प्रकार हँसता हुआ चला गया था। सेठ साहब रात भर

---

*हिंदुस्तान का बँटवारा तो हो गया।

कभी अपनी सदयता पर, कभी उस गुजराती युवक की नीचता और मरभुखेपन पर (जो किसी प्रकार की आपत्ति किये विना प्रत्येक बुध को हलवा और दूसरी चीज़ें ले लेता था) कभी अपनी पत्नी पर जो सदैव नौकरों को अपनी मूर्खता के कारण बिगाड़ देती थी और सब से अधिक अपने आप और जगन्नाथ पर झल्लाते रहे ।

किन्तु दूसरे दिन सुबह जब उनकी पत्नी आयी तो वे काफ़ी सँभल चुके थे । वे जगन्नाथ की शिकायत करें तो वह उन्हींके पीछे न पड़ जाये कि आप ही ने उसे बिगाड़ दिया है, इस विचार से उन्होंने कुछ बेपरवाही से हँस कर कहा, "यह जगन्नाथ भी अजब मूर्ख है । एक दिन वह गुजराती छोकरा नारायण मेरे पास बैठा था, मुझे भूख न थी, मैंने कुछ हलवा उसे देने को कहा । उसने हलवे की प्रशंसा क्या की कि बस हर बुध को हलवा लेकर उसके वार्ड में पहुँच जाता है । इतनी छोटी-सी बात के लिए मैं उसे क्या कहूँ, तुम ज़रा उसे समझाना ।"

उनका यह कहना था कि उनकी पत्नी उबल पड़ी । वास्तव में वह स्वयं जगन्नाथ की शिकायत करने आई थी । "मैं तो आप के डर से कुछ कहती नहीं", वह बोली, "नहीं इसने मुझे जितना परेशान कर रखा है, मैं ही जानती हूँ । इतने नौकर रखे हैं, इस जैसा मूर्ख नहीं देखा । कोई ज़रा-सी प्रशंसा कर देता है, बस उसी का हो जाता है । एक दिन उस पंजाबी छोकरी ने इसके खाना पकाने की प्रशंसा की,बस, कोई तरकारी पकाये, उसे ज़रूर पहुँचाता है । लीला बाई, मालकिन-मकान, माली, हमाल† किसी न किसी को कुछ न कुछ देता ही रहता है । हम को मिले न मिले, उन्हें अवश्य पहुँचाता है । पड़ोसियों की बात है, मैं कुछ कहती नहीं । और तो और, परसों एक पंजाबी पैसेंजर आया । उसे शायद सिन्धी खाना पसन्द न था । बस मालकिन-मकान ने

† हमाल=साधारण नौकर

इससे कहा, "क्या खाना पकाते हो जगन्नाथ, हमारा पंजाबी पैसेंजर कहता था कि खुशबू ही से तबीयत खिल जाती है।" बस रोज़ उस पंजाबी छोकरे को सालन पर सालन पहुँचते हैं। मैं तो तंग आ गई हूँ। कोई सदाव्रत खोल रखा है हमने ? आप को हमारी बनी चीज़ पसन्द नहीं आती, नहीं तो मैंने इसे कब का निकाल दिया होता।"

"नहीं, नहीं, यह बात नहीं," सेठ साहब हँस कर बोले। उन्हें पहली बार अपनी पत्नी से सहानुभूति हुई, "मैं तो तुम्हारे कारण ही कहता था। यहाँ नौकर मिलते नहीं, तुम्हें फिर चौके-चूल्हे से माथा फोड़ना पड़ेगा। ज़रा मूर्ख तो है, किन्तु है दयानतदार।"

"मैं ऐसे दयानतदार को लेकर क्या करूँ ?" सेठानी बोली, "दोनों हाथों से घर लुटाये दे रहा है। और फिर घर में हम चाहे चीखती-चिल्लाती रहें, वह पड़ोसियों के काम में लगा रहता है। सुबह बाज़ार जाता है तो दस-ग्यारह बजे तक लौटता नहीं। दुनिया भर के लिए सामान खरीदता फिरता है। मैं स्वयं पका लूँगी पर इसको नहीं रखूँगी।"

"नहीं तुमको पकाने की ज़रूरत नहीं," सेठ साहब ने अतीव उदारता से कहा, "मैं आज ही मुनीम को तार देता हूँ, आते समय रसोइया लेता आये, तब तक तुम इसी से काम चलाओ। डाँटो, किन्तु इतना नहीं कि अभी चला जाय।"

कई दिन के बाद आकाश कुछ खुला था। घटाएँ छँट गई थीं और हल्के-हल्के बादलों के पीछे से सूर्य की निर्जीव सी मुस्कान गीली-गीली पहाड़ियों पर फैल गई थी। लक्ष्मी घर में बैठे-बैठे उकता कर स्वयं बाज़ार गई थी। सामान का थैला हाथ में लिये हुए वह बंगले को लौटी आ रही थी कि सामने से उसे बोरिया-बिस्तर उठाये, नाक-भौं चढ़ाये जगन्नाथ आता हुआ दिखाई दिया।

"क्यों भाई जगन्नाथ, कहाँ चले ?" उसने रुक कर पूछा।

"नौकरी छोड़ आया।" जगन्नाथ ने वैसे ही नाक चढ़ाये हुए कहा, "घसियारे हैं और सेठ बने फिरते हैं।"

जब लक्ष्मी ने पूछा तो उसने सारी बात बताई और बोला कि वह ऐसा वैसा रसोइया नहीं। उसे नौकरियाँ बीस मिल जायँगी और सेठों ही की मिलेंगी, घसियारों की नहीं। कहाँ तो डाँट रही थीं कि मुझे ऐसा नौकर नहीं चाहिए, तुम दूसरा घर देख लो। जब मैंने बिस्तर उठाया तो कहने लगीं—पन्द्रह दिन का नोटिस दो, नहीं पगार काट लेंगे! मैंने कहा—'तुम पगार काट कर सेठ बन जाओ, मुझे नहीं चाहिए ऐसे भुक्खड़ों की नौकरी।"

और वह चलने लगा।

लक्ष्मी ने अत्यन्त उदास होकर कहा, "तुम्हें तो बीस सेठ मिल जायेंगे जगन्नाथ, पर हमें तुम जैसा भाई कहाँ मिलेगा।"

जगन्नाथ चलता-चलता रुक गया। गर्व से उसका मस्तक ऊँचा हो गया। नथुने फुला कर बोला, "तुम चिन्ता न करो बीबी, मैं कहीं भी रहूँ, तुम्हें किसी तरह का कष्ट न होने दूँगा।"

लक्ष्मी के नेत्र सजल हो गये। "तुम्हारा ही सहारा है भाई" कह कर और जगन्नाथ के नमस्कार का उत्तर देकर वह चल पड़ी। सोचने लगी—ज़रा सी प्रशंसा का भूखा है बेचारा, घर में मिल जाय तो बाहर क्यों जाय?

क़ैद और उड़ान

[अश्क के दो बड़े नाटकों का संग्रह]

अश्क का नाटककार सागर के तट पर घूमने वाला ऐसा पथिक है जो बिना किसी पूर्व-योजना के जो भी सुन्दर उपल देखता है, चुन लेता है। अश्क के नाटक अपने उद्देश्य कथानक, पात्र, रस, रंग और वातावरण की दृष्टि से सुन्दर उपल-खंडों ही की भाँति विभिन्न और रंगारंग हैं।

परन्तु अपने नवीन नाटक-संग्रह 'कैद और उड़ान' में अश्क ने पूर्व-निश्चय के साथ भव के इस विशाल सागर के तट से दो मोती चुने हैं।

कैद—और—उड़ान

दोनों नाटक प्रेम की बात करते हैं।

प्रेम—जब नारी रीति-रिवाज की ज़ंज़ीरों में जकड़ी, खून के आँसू रोती है।

प्रेम—जब नारी-पुरुष समाज की जकड़बन्दियों में रह कर भी उड़ान का सहूर नहीं खोती।

और हिन्दी के नाटक क्षेत्र ही में नहीं, वरन् स्वयं अश्क के नाटकों में भी ये दोनों नाटक विशिष्ट स्थान के अधिकारी हैं। इनमें प्रेम भी है, रोमान भी और काव्य भी। पर इन सब के बैक ग्राऊँड में ब्लाक के हाफ़-टिंट की भाँति कटु यथार्थता भी है।